आलोचनात्मक अध्ययन

सूरदास

(महाकवि सूरदास के व्यक्तित्व और कृतित्व का विशद अध्ययन)

लेखक
प्रो० दामोदरदास गुप्त एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६ : पटना-४

द्वितीय संशोधित
एवं
परिवर्धित संस्करण १९६२ मूल्य २.५०

विषय-सूची

की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा
की समीक्षा कीजिये।

'दृष्टिकूट' से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? सूर ने
कूटों का प्रयोग क्यों किया है? उनके दृष्टिकूटों की
चना कीजिये।

"सूर की कल्पना उच्च कोटि की सृष्टि करने वाली
अलंकारों से सुसज्जित होकर वह और भी भावपूर्ण
जाती है।" इस कथन की उदाहरण सहित पुष्टि कीजि

"वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने
बंद आँखों से किया उतना और किसी कवि ने नहीं
इसका कोना-कोना झाँक आये हैं।" इस कथन से आप
तक सहमत हैं?

"दैन्य-भाव सूरदास के मानस का एक स्थायीभाव है
उनकी श्रद्धा, विनयशीलता, भक्ति-भावना की तीव्रत
सहज द्रवणशीलता का परिचायक है।" इस कथन
सार्थकता प्रमाणित कीजिये।

'सूर का भाषाधिकार' शीर्षक निबन्ध लिखिये।

'सूर ने मानव-सौंदर्य का जैसा अपूर्व चित्रण किया है
किसी अन्य कवि ने नहीं।' इस कथन की समीक्षा की

पुष्टिमार्ग किसे कहते हैं? सूरदास पर इसका क्या
पड़ा।

"यद्यपि सूर से पहले अन्य कवियों ने भी प्रकृति का चि
किया था किन्तु जितना विशद चित्रण सूर ने किया है
उनसे पूर्व अन्य किसी कवि ने नहीं।" इस कथन पर प्र
डालते हुए सूर के प्रकृति-चित्रण की समीक्षा कीजिये।

'सूरदास की भक्ति-पद्धति' शीर्षक पर एक परिचयात्मक
लिखिये।

हिन्दुओं पर एक से एक बढ़कर अत्याचार होते रहते थे। हिन्दुओं के शेष राज्यों के छोटे-मोटे शासकों की चेतना शून्यवत हो गई। ये राजपूत शासक अपने पूर्व पुरुषों के आदर्शों को विस्मृत करके मुस्लिम शासकों का अनुकरण कर विलासी बन गये। प्राचीन काल से चली आई हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गई। पहले राजनीति सभी क्षत्रियों का धर्म था, किन्तु अब वे इसे बस अपना धर्म समझते थे जिनके हाथ में राजदंड होता था। देश का विशाल जनसमूह राजनीति से उदास हो गया। राजनीतिक चेतना का उसमें इतना अभाव हो गया कि वह यवन-शासकों के अत्याचारों को दैवी प्रकोप समझकर सहन करती रही। जनता में सामूहिक इच्छा एवं प्रयत्न का कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता था। किसी नवीन प्रेरणा के द्वारा ही जनता क्रियाशील हो सकती थी।

मुगलों के आगमन ने देश की राजनीति में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। भारत में मुगल राज्य की नींव डालने वाला बाबर स्वयं सैनिक शासन के स्थान पर सभ्य प्रशासन-व्यवस्था की स्थापना का इच्छुक था। इस नवीन राज्य-व्यवस्था की वास्तविक नींव चाहे बाद में महान् अकबर के द्वारा पड़ी हो, किन्तु उसका पूर्वरूप मध्यवर्ती काल के शेरशाह सूरी जैसे महान् शासक के शासन काल में स्थापित हो चुका था। इस दृष्टि से अकबर का महत्व सर्वाधिक है। उसने उस समय, जबकि धर्मान्धता की महाव्याधि भारत को ही नहीं समस्त विश्व को पीड़ित किये हुए थी, सम्प्रदाय हीन राष्ट्रीयता की नीति अपनायी थी। सारे मुस्लिम राज्यशासन में पहली बार शासन में हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त किया गया। अकबर ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा की सद्भावना प्राप्त करने का सराहनीय प्रयास किया। उसने सभी धर्मों के प्रति ऐसी उदार नीति अपनाई जो भारत में मुस्लिम शासन के इतिहास में अपना असाधारण महत्व रखती है। उसके शासनकाल में प्रजा को पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षा मिली। आर्थिक दृष्टि से भी प्रजा की दशा में सुधार हुआ। तत्कालीन धार्मिक स्वतंत्रता तो ऐतिहासिक वस्तु है। संगीत, साहित्य और कला को भी

यवनों का सामना न कर सके। इन राजपूत राजाओं की दृष्टि भी इतनी सीमित थी कि वे यवनों के इन आक्रमणों के भावी परिणामों के विषय में भी कुछ नहीं सोचते थे। अनेक बार मुँह की खाने के पश्चात् भी मुहम्मद गोरी ने जब अचूक तीरन्दाज महान् वीर एवं अदम्य साहसी पृथ्वीराज चौहान को सन् ११९३ ई० में पराजित कर दिल्ली में यवन-शासन का केन्द्र स्थापित कर दिया, तब भी इन राजपूत राजाओं के नेत्र बन्द ही रहे। फलतः शीघ्र ही वर्ष उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध शासक जयचन्द भी मुहम्मद गोरी द्वारा पराजित हो गया। इन दोनों प्रभावशाली शासकों की पराजय ने राजपूत राजाओं को पूर्णतया हताश कर दिया। अब वहाँ ऐसा कोई शासक न रहा जो यवनों के आक्रमणों का दृढ़तापूर्वक सामना कर सकता। सन् ११९७ ई० में बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया और वहाँ के बौद्ध-विहारों एवं पुस्तकालयों को नष्ट करके बंगाल तक इस्लाम का झंडा फहरा दिया। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी का अंत होते-होते भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया और हिन्दुओं की राजनीतिक सत्ता भंग हो गई।

इसके पश्चात के यदि मुस्लिम-शासन के इतिहास के पृष्ठों पर एक दृष्टि डाली जाय तो हमें एक ऐसे कठोर सैनिक शासन के दर्शन होंगे जिसका कार्य जनता से मनमाना कर वसूल करने, धार्मिक अत्याचार करने, आर्थिक-शोषण करने तथा अपनी शक्ति बढ़ा कर राज्य विस्तार करने के अतिरिक्त अन्य कुछ न था। भारत में मुगलों के आगमन से पूर्व सन् १२०६ ई० से सन् १५२६ ई० तक अर्थात् ३२० वर्ष तक गुलाम, खिलजी, तुगलक एवं सैयद और लोदी वंश के सुल्तान राज्य करते रहे। इस काल की राजनीतिक अवस्था सुव्यवस्थित नहीं कही जा सकती। इस शासन को प्रजा का शासन नहीं कहा जा सकता। इस काल के मुस्लिम शासक अधिकतर विलासी, अयोग्य और निकम्मे थे। उत्तराधिकार आदि का कोई नियम उस समय दृष्टिगत नहीं होता। आये दिन राज्य सिंहासन के लिए संघर्ष होता रहता था, थोड़े-थोड़े समय के बाद शासन बदलते रहते थे। दलबन्दी और षड्यंत्रों का स्थान-स्थान पर बोल बाला था।

हिन्दुओं पर एक से एक बढ़कर अत्याचार होते रहते थे। हिन्दुओं के शेष राज्यों के छोटे-मोटे शासकों की चेतना शून्यवत हो गई। ये राजपूत शासक अपने पूर्व पुरुषों के आदर्शों को विस्मृत करके मुस्लिम शासकों का अनुकरण कर विलासी बन गये। प्राचीन काल से चली आई हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था विकृत हो गई। पहले राजनीति सभी क्षत्रियों का धर्म था, किन्तु अब वे इसे बस अपना धर्म समझते थे जिनके हाथ में राजदंड होता था। देश का विशाल जनसमूह राजनीति से उदास हो गया। राजनीतिक चेतना का उसमें इतना अभाव हो गया कि वह यवन-शासकों के अत्याचारों को दैवी प्रकोप समझकर सहन करती रही। जनता में सामूहिक इच्छा एवं प्रयत्न का कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता था। किसी नवीन प्रेरणा के द्वारा ही जनता क्रियाशील हो सकती थी।

मुगलों के आगमन ने देश की राजनीति में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। भारत में मुगल राज्य की नींव डालने वाला बाबर स्वयं सैनिक शासन के स्थान पर सभ्य प्रशासन-व्यवस्था की स्थापना का इच्छुक था। इस नवीन राज्य-व्यवस्था की वास्तविक नींव चाहे बाद में महान् अकबर के द्वारा पड़ी हो, किन्तु उसका पूर्वरूप मध्यवर्ती काल के शेरशाह सूरी जैसे महान् शासक के शासन काल मे स्थापित हो चुका था। इस दृष्टि से अकबर का महत्व सर्वाधिक है। उसने उस समय, जबकि धर्मान्धता की महाव्याधि भारत को ही नहीं समस्त विश्व को पीड़ित किये हुए थी, सम्प्रदाय हीन राष्ट्रीयता की नीति अपनायी थी। सारे मुस्लिम राज्यशासन मे पहली बार शासन में हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त किया गया। अकबर ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा की सद्भावना प्राप्त करने का सराहनीय प्रयास किया। उसने सभी धर्मों के प्रति ऐसी उदार नीति अपनाई जो भारत मे मुस्लिम शासन के इतिहास में अपना असाधारण महत्व रखती है। उसके शासनकाल मे प्रजा को पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षा मिली। आर्थिक दृष्टि से भी प्रजा की दशा मे सुधार हुआ। तत्कालीन धार्मिक स्वतंत्रता तो ऐतिहासिक वस्तु है। संगीत, साहित्य और कला को भी

प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। हिन्दी का अधिकांश वैष्णव साहित्य इसी काल में रचा गया। अकबर ने वैष्णव भक्ति के आन्दोलन कर्त्ताओं को संरक्षण एवं आर्थिक सहायता प्रदान की। सम्प्रदायों से वह सदैव मिलने को उत्सुक रहता था। भक्त कवियों को सदैव उसने बुलाने की चेष्टा की, किन्तु यह कहना कि उस समय के हिंदी साहित्य को अकबर का संरक्षण प्राप्त था, न्यायसंगत नहीं है। अकबर ने अवश्य ही इन कवियों को बुलाने की चेष्टा की, पर इन कवियों ने सदैव ही उसके वैभव का तिरस्कार किया। वे तो उस लीलामय श्रीकृष्ण के परम भक्त थे जिसकी मधुर मूर्ति ने जनता के हृदय को आन्दोलित कर दिया था। भगवान की कृपा के सम्मुख भला इन भक्त कवियों के लिए एक सम्राट् का वैभव क्या मूल्य रखता था? इसीलिए तो एक भक्त-कवि ने अकबर के निमंत्रण को यह कहकर ठुकरा दिया था—'सन्तन कहा सीकरी सौं काम।'

इन कवियों के काव्य को तो जनता के द्वारा प्रेरणा प्राप्त हुई थी, सम्राट् के विषय में तो यही समझना चाहिये कि वह पूर्ववर्ती शासकों की भाँति बाधा बन कर नहीं खड़ा हुआ था। अतः ये कवि जनाश्रित ही थे, सम्राटाश्रित नहीं। इनका लक्ष्य जनता को ही प्रभावित करना था, सम्राट् को प्रभावित कर उनसे कुछ चाँदी के टुकड़े प्राप्त कर सुख और ऐश्वर्य में निमग्न रहना नहीं था।

भक्तराज सूरदास भी इन्हीं कवियों में से एक थे। वे सन् १४७८ ई० के लगभग पैदा हुए थे और अकबर के सुव्यवस्थित राज्य-काल में जीवित थे। वे भी एक ऐसे ही भक्तराज थे जिनका राज्य वैभव से कोई सरोकार नहीं था। कृष्ण-भक्ति ही उनके लिए सारे संसार का वैभव था। उनके लिए सारे संसार का वैभव भी कृष्ण की कृपा-प्राप्ति के सम्मुख तुच्छ था। वे तो अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने काव्य की प्रेरणा जनता की भावना से प्राप्त की थी, अतः उनके अध्ययन के लिए राजनीतिक परिस्थिति से भी अधिक सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिये।

सामाजिक परिस्थितियाँ

हिन्दू समाज कालान्तर से अनेक जातियों, अनेक सम्प्रदायों तथा

अनेक वर्गों के रूप में विभाजित चला आ रहा है। भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना होने पर हिन्दू-सत्ता का विनाश तो हो ही गया, साथ ही धर्म-मन्दिरो का विध्वंस और तीर्थों की दुर्व्यवस्था एवं पतन भी हो गया था। मुस्लिम शासकों ने हिन्दू-धर्म का जो तिरस्कार एवं अपमान किया, उससे हिन्दू समाज निराशा के सागर मे डूब गया। वह नैतिक दृष्टि से भी कुछ पतित हो चला था। भय, अत्याचार तथा प्रलोभन के परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों और जातियों ने अपना धर्म-परिवर्तन भी कर डाला। धर्म-परिवर्तन का यह क्रम लगभग सम्पूर्ण मुस्लिम शासनकाल मे निरन्तर जारी रहा। मुस्लिम शासन के इस दीर्घ काल मे धर्म परिवर्तन की अनुमानित संख्या वास्तव में बहुत थोड़ी प्रतीत होती है। इतने दीर्घ समय मे इतना थोड़ा परिवर्तन वस्तुतः एक आश्चर्य की बात है। अधिक धर्म परिवर्तन न होने के कई कारण थे। सर्वप्रथम इस दृष्टि से हम वैष्णव-भक्ति के देशव्यापी आन्दोलन का नाम ले सकते हैं। इस आन्दोलन ने जनता के जीवन के लिए एक सार्थक उद्देश्य प्रदान किया परन्तु यह कार्य परोक्ष रूप एवं अज्ञात ढंग से हुआ और हिन्दुओं की धर्म रक्षा का सबसे बड़ा उपाय यही सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं को स्वयं भी स्वभावतः अपनी आत्म रक्षा के कुछ तात्कालिक और व्यावहारिक उपाय सूझे। उन्होने स्वयं भी नैतिक पतन से आत्मरक्षा के लिए कुछ उपाय किये। उन्होंने मुसलमानों को उनके धर्म-परिवर्तन के इस घृणित कार्य मे सहयोग नही दिया। वे स्वभावतः मुसलमानों को तिरस्कार एवं घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे यद्यपि शासक थे, किन्तु हिन्दुओं ने उन्हें म्लेच्छ कहकर अस्पृश्य घोषित कर दिया। स्वयं मुसलमानों की ओर से इसका एक कारण था। वे अपने को तो महान् धार्मिक समझते थे और दूसरों को अधर्मी। वे हिन्दुओं से उस समय तक नहीं मिल सकते थे जब तक कि वे मुसलमान न बन जायें। उन्होने स्वयं अनेक धर्म-मतों के अनुयायी और विविध जातियों मे विभक्त भारत निवासियों को 'हिन्दू' नाम से पुकारा। वे 'हिन्दू' का अर्थ उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार हिन्दू उन्हें 'म्लेच्छ' कह कर 'म्लेच्छ' का अर्थ करते थे। हिन्दू इससे भी ऊपर निकले। उन्होने इनकी अलग रहने की मनो-

वृत्ति को यहाँ तक अपनाया कि जो हिन्दू एक बार किसी कारणवश भय से, प्रलोभन या भूल से मुसलमान हो गया, फिर उसे वापिस लेना अपने धर्म के प्रतिकूल समझा गया। हिन्दुओं के आत्मरक्षा के इन उपायों के फलस्वरूप उनकी जातिगत संकोचवृत्ति और भी बढ़ गई। छूआछूत, खानपान, शादी विवाह आदि के नियम अब पहले से भी अधिक कठोर हो गये।

इस घृणामूलक मनोवृत्ति के अतिरिक्त तत्कालीन समाज कुछ अन्य कुप्रथाओं की महा व्याधि से भी पीड़ित था। हिन्दू-समाज में स्त्रियों की पराधीनता पहले से ही बढ़ी चली जा रही थी। बाल-विवाहों और विधवाओं की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती चली जा रही थी। सती होने की प्रथा की तूती की ध्वनि निरन्तर तेज होती जा रही थी। इस समय की राजनीतिक अव्यवस्था, धार्मिक अत्याचार तथा विदेशी संस्कृति के प्रभाव ने स्त्रियों की हीनावस्था को और भी हीन बना दिया। मध्य और उच्च वर्ग में पर्दे की कुप्रथा का प्रचलन हो गया और स्त्री घर रूपी जेल में बन्द होकर रहने लगी। मुसलमानों के यहाँ स्त्री को केवल भोग की वस्तु माना जाता था। हिन्दुओं पर भी उनके इस विचार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उस समय का हिन्दी-साहित्य नारी की शोचनीयता का स्पष्ट परिचायक है। इस काल के सभी सन्तों एवं महात्माओं ने नारी को भोग की ही वस्तु समझ कर उसकी घोर निन्दा की है। उन्होंने पुरुष को शिक्षा दी है कि उसे नारी से अलग ही रहना चाहिये। इसी में उस का कल्याण है। इससे अलग रह कर ही वह भगवान् की सच्ची भक्ति कर सकता है। महात्मा कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया है—

'नारी की झाईं परत अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी को संग॥'

इसी प्रकार उस समय के सन्तों एवं महात्माओं ने धन-वैभव के प्रति उपेक्षा और त्याग का भाव रखने का उपदेश दिया है।

वास्तविक बात तो यह है कि उस समय की परिस्थितियों ने वैराग्य-भावना का प्रचार बहुत अधिक बढ़ा दिया था। धर्म और कर्म सब संकुचित हो चले

थे। मनुष्य को अपना सांसारिक जीवन अत्यधिक उद्देश्यहीन एवं निरर्थक प्रतीत हो रहा था। सामाजिक जीवन सर्वथा लुप्त हो चला था। जैन और बौद्ध धर्म के श्रमणभिक्षु-जीवन तथा शंकराचार्य के मायावाद के प्रभाव से वैराग्य की भावना को ही सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना जाने लगा था। इस काल के विदेशी आक्रमण, कुशासन, अव्यवस्था एवं अराजकता के कारण उत्पन्न अरक्षा की भावना ने इस वैराग्य की भावना को और भी उत्तेजित कर दिया। इस्लाम की कट्टरता से इसे और भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप धर्माचरण का अर्थ अत्यन्त संकुचित हो गया और मनुष्य का आचरण व्यक्तिगत हो गया। वह सदाचार, उदारता, निश्छलता और सहृदयता का व्यवहार अपने धर्म का अंग समझने लगा। सत्यवादिता, अहिंसा, प्रतिज्ञापालन, शरणागत-वत्सलता आदि उसके नैतिक आदर्श बन गये, किन्तु उसके ये आदर्श व्यक्तिगत आचरण से ही संबन्धित थे। अतः कभी कभी इनसे समाज की बड़ी भारी हानि हो जाती थी। इस काल के इतिहास से अनेक उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारत के प्राचीन काल का इतिहास साक्षी है कि धर्म का सामाजिक रूप जनशिक्षा का प्रबलतम माध्यम रहा था। इस समय के समाज की शोचनीय अवस्था ने इस साधन को तो नष्टप्राय कर ही दिया, साथ ही शिक्षण की अन्य संस्थाएँ भी समाप्त कर दीं। समाज का निम्न वर्ग तो पहले से ही शिक्षा से वंचित चला आ रहा था, परन्तु इस काल की दुर्व्यवस्था ने उच्च और मध्य वर्ग के शिक्षा-ग्रहण में भी असुविधायें उत्पन्न कर दीं। परिणाम यह हुआ कि समाज की सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति के मार्ग में बाधाओं के पर्वत उपस्थित हो गये। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक दृष्टि से इतिहास का यह काल घोर भयंकरपूर्ण था, किन्तु घोर निराशा एवं अन्धकार के इस सामाजिक वातावरण में भी ग्रामीण एवं जातीय पंचायतों के रूप में घरेलू ढंग की सामाजिकता का दीप टिमटिमा रहा था। इसका संगठन इतना परिपूर्ण एवं स्वावलम्बी था कि इसका व्यक्ति सम्पूर्ण समाज और राजनीतिक शासन की ओर से ही पूर्ण रूप से उदासीन रहने में समर्थ था। भारतीय समाज के ऐसे ही संगठन आधुनिक

काल के आरम्भ तक सुरक्षित रहे। इन्हीं के द्वारा अनेक भयंकर उथल-पुथलों के बीच भक्ति को विकास करने का सुअवसर प्रदान होता रहा है।

भक्ति-आन्दोलन का विकास

इन्हीं सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के बीच भक्ति-आन्दोलन का विकास हुआ। इस आन्दोलन के द्वारा तत्कालीन समाज के अनेक दोषों एवं दुर्बलताओं को सुधारने का स्तुत्य प्रयास किया गया। इस आन्दोलन को पूर्ण रूप से समझने के लिए उससे पूर्व की धार्मिक परिस्थितियों पर विहंग-दृष्टि डालना अनिवार्य प्रतीत होता है। वैष्णव-भक्ति के व्यापक प्रचार से पूर्व उत्तर भारत में शैव और शाक्त मतों की तूती बोल रही थी। वासुदेव भक्ति के रूप में यद्यपि यह वैष्णव-धर्म इतिहास के स्वर्णयुग गुप्तकाल में ही संगठित हो चुका था, तथा रामायण, महाभारत तथा कितने ही पुराणों को वैष्णव रूप दिया जा चुका था, तथापि अभी उसे उन शक्तियों की आवश्यकता थी जो उसे शांति प्रदान कर सकें। गुप्तकाल के पश्चात् लगभग ६०० वर्ष तक अर्थात् १२०० ई० तक तांत्रिक विचारधारा का नगाड़ा बहुत जोर से बजता रहा। बौद्ध धर्म अत्यन्त हीनावस्था को प्राप्त हो गया था। हाँ, उसके बाद के परिवर्तित रूप महायान, वज्रयान तथा सहजयान आदि सम्प्रदाय अब भी लोकप्रिय बनने का प्रयास कर रहे थे। जैन-धर्म भी लगभग नष्टप्राय हो चला था। यह केवल पश्चिमी भारत में शेष रह गया था। वैष्णव-धर्म की दशा तो इन सभी के सामने कुछ नहीं दिखाई देती थी। तांत्रिक विचारधारा ने उस समय सभी धर्मों को कुछ-न-कुछ प्रभावित किया। वैष्णव धर्म पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। किन्तु ठीक इसके विपरीत शिक्षित समाज पर अद्वैतवाद एवं मायावाद का भी गहरा प्रभाव था। दोनों विचारधारायें एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत थीं। एक यदि भोगवाद की अन्तिम सीढ़ी पर चढ़ा हुआ था तो दूसरा वैराग्य का प्रबल पोषक था। इस प्रकार एक ओर शैव, शाक्त और बौद्ध धर्म के मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और सिद्ध-सम्प्रदाय विकसित हुए तो दूसरी ओर शंकराचार्य के व्यापक प्रभाव ने भिक्षु-संघ के अनुकरण पर विरक्तों के दल के दल उत्पन्न कर दिये।

'अहं ब्रह्मास्मि' का मंत्र बोलना उस समय का एक फैशन बन गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्ययुग के आरम्भ में धार्मिक क्षेत्र में सुधारवाद की मनोवृत्ति लक्षित हो रही थी।

इस समय भारत में मुस्लिम धर्म और संस्कृति का प्रवेश हुआ। मुसलमान विजेता थे, धन लोलुप थे और धर्मान्ध थे। अतः इन्होंने भारतीय धर्म एवं समाज को हेय दृष्टि से देखा। कुछ मुसलमान ऐसे भी थे जिन्हें विचारशील, उदारमना और साधु व्यक्ति कहा जा सकता है। ये मुसलमान सूफी कहलाते थे। इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद और मुस्लिम सर्वेश्वरवाद में कुछ सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया। इससे कुछ हिन्दू इस्लाम की ओर अवश्य आकर्षित हुए होंगे, किन्तु इनकी संख्या कुछ अधिक नहीं हो सकती थी। हाँ, इसका एक सुन्दर परिणाम अवश्य हुआ। दो विरोधी जातियों ने एक दूसरे के धर्मों को समझने का प्रयास किया। कबीर जैसे सन्तो ने इन दोनों धर्मों में एकता बिठाने का स्तुत्य प्रयास किया, किन्तु कबीर स्वयं अशिक्षित थे और किसी अभिजात वर्ग के नहीं थे, अतः उनका प्रभाव शिक्षित एवं उच्च वर्गों पर न पड सका। कबीर जैसे सन्तों का कुछ अधिक प्रभाव न पड़ने के कुछ और भी कारण थे। प्रथम तो यह कि निराकार ब्रह्म की कल्पना ही अत्यन्त दुरूह थी। दूसरे, उसकी प्राप्ति के साधन हठयोग, सहजसमाधि, रहस्यात्मक भक्ति आदि सुगम साधन नहीं थे। तीसरे, इसमें व्यक्तिगत साधना पर आधारित विधानों के कारण अहंकार, पाखंड एवं आडम्बर प्रवेश पा गये थे। इस प्रकार तत्कालीन जीवन उद्देश्यहीन बना हुआ था। ज्ञान और कर्म का मार्ग अत्यन्त दुर्लभ था। परस्पर विरोधी विचारों का संघर्ष निरन्तर जारी था। धार्मिक क्षेत्र में चारों ओर अन्धकार में एक अमर ज्योति दिखाकर जनता का मार्ग निदर्शन किया। देश की एक ऐतिहासिक आवश्यकता इसके प्रचार द्वारा पूरी हुई।

धार्मिक परिस्थितियाँ

जिस समय उत्तर भारत बौद्ध धर्म के रंग में पूर्णतया रंगा हुआ था, उस

समय दक्षिण भारत में भागवत धर्म के रूप में वैष्णव-भक्ति का रंग भी जमने लगा था। ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में दक्षिण में आलवार भक्तों की परम्परा प्रारम्भ हुई और नवीं शताब्दी तक चलती रही। इन आलवार भक्तों के तामिल भाषा में चार हजार भावपूर्ण गीत पाये जाते हैं जिनमें इन्होंने वासुदेव या नारायण के प्रति एकांतिक प्रेम-भक्ति को बड़ी तल्लीनता के साथ प्रकट किया है। किन्तु तत्कालीन स्थिति में जबकि शंकराचार्य के अद्वैतवाद, मायावाद और वैराग्यवाद का देशव्यापी प्रचार था, इन भक्तों की समर्पण-युक्त एकांतिक भक्ति का जिसके इष्टदेव साकार थे, व्यापक रूप में प्रचलित होना असंभव था। आध्यात्मिक विचारों के क्षेत्र में पहले भक्ति-मार्ग को प्रशस्त करना आवश्यक था। जब तक भक्ति धर्म को दार्शनिक एवं शास्त्रीय आधार प्राप्त न हो जाय, तब तक शंकराचार्य का तर्कसम्मत एवं सर्वस्वीकृत अद्वैत-सिद्धान्त का खंडन किस प्रकार मान्य हो सकता था। भक्ति-सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों की समक्ष में यह बात आ गई। अतः उन्होंने किसी न किसी अंश में अद्वैत सिद्धान्त को ग्रहण किया, किन्तु साथ ही उनकी ऐसी व्याख्यायें, प्रस्तुत कीं जिनसे जीव और ब्रह्म में प्रेम-भक्ति का संबंध कल्पित हो सका। दक्षिण भारत के आचार्यों को ही यह गौरव प्राप्त है। नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्यों के नाम इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमे भी अन्तिम तीन आचार्यों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इन आचार्यों की भक्ति वैसे तो १२वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गई थी, किन्तु भक्ति का व्यापक प्रचार रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर रामभक्ति का देशव्यापी प्रचार करने वाले गुरु रामानन्द के आविर्भाव के पश्चात् ही हो सका। कबीर और तुलसी दोनों सम्भवतः इन्हीं के अनुयायी थे। कृष्णभक्ति का प्रचार करने वालों में वल्लभाचार्य का स्थान अग्रगण्य है। यद्यपि कृष्ण-भक्ति का प्रचार भी १२वीं शताब्दी से ही हो रहा था, किन्तु इसको भी लोकप्रियता १५वीं शताब्दी से पूर्व प्राप्त नहीं हुई। कृष्ण-भक्ति का अधिकांश प्रचार उन भक्तों के द्वारा हुआ जो वल्लभा- र्य और चैतन्य के समय में हुए; अथवा १६वीं शताब्दी में सखी सम्प्रदाय के

प्रवर्तक स्वामी हरिदास जैसे भक्तों द्वारा हुआ। भक्तराज सूरदास का जन्म १५वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में माना जाता है और स्वर्गवास १६वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में। महाकवि सूरदास इन भक्तों में प्रत्येक दृष्टि से अग्रगण्य हैं। सूरदास श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के ही अनुयायी थे। वैसे तो 'अष्टछाप' में वल्लभाचार्य द्वारा परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास, सूरदास तथा वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ द्वारा सम्मिलित चतुर्भुजदास, नन्ददास, गोविंद स्वामी तथा छीतस्वामी आठ कृष्ण भक्ति कवि हैं, किन्तु इन सब में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्न २—उपलब्ध सामग्री के आधार पर सूरदास के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालिये।

भारतीय ऋषि एवं महात्मा प्राचीन काल से ही भक्त, परोपकारी, ज्ञानी एवं वैरागी रहे हैं। उनके नाम को लोकप्रियता अथवा यश प्राप्त हो, इसकी चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की। अतः कुछ रचना करते हुए भी वे अपना परिचय न दे सके। आत्म-प्रदर्शन की भावना से वे कोसों दूर थे। वास्तव में वे तो प्रत्यक्ष से नहीं, परोक्ष से प्रेम करते थे। वे अपने आराध्य देव की गाथा गाते-गाते उनके प्रेम में इतने निमग्न हो जाते थे कि उन्हें अपने विषय में कुछ कहना याद ही नहीं रहता था और वे अपने विषय में कुछ कहने की वे आवश्यकता नहीं समझते थे। फलतः इनके जीवन वृत्त के विषय में प्रामाणिक रूप में कुछ भी कहना बड़ा कठिन हो जाता है ठीक यही बात महात्मा सूरदास के जीवनवृत के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है।

किसी भी कवि की जीवनी के सम्बन्ध में जानने के लिए मुख्य रूप से दो साधन प्रयोग में लाये जाते हैं—

(१) अन्तः साक्ष्य

(२) बाह्य साक्ष्य।

अन्तः साक्ष्य से तात्पर्य उस सामग्री से है जो स्वयं कवि द्वारा अपनी रचनाओं में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में कही गई है। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत उस

समय दक्षिण भारत में भागवत धर्म के रूप में वैष्णव-भक्ति का रंग भी जमने लगा था। ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में दक्षिण में आलवार भक्तों की परम्परा प्रारम्भ हुई और नवीं शताब्दी तक चलती रही। इन आलवार भक्तों के तामिल भाषा में चार हजार भावपूर्ण गीत पाये जाते हैं जिनमें इन्होंने वासुदेव या नारायण के प्रति एकांतिक प्रेम-भक्ति को बड़ी तल्लीनता के साथ प्रकट किया है। किन्तु तत्कालीन स्थिति में जबकि शंकराचार्य के अद्वैतवाद, मायावाद और वैराग्यवाद का देशव्यापी प्रचार था, इन भक्तों की समर्पण-युक्त एकांतिक भक्ति का जिसके इष्टदेव साकार थे, व्यापक रूप में प्रचलित होना असंभव था। आध्यात्मिक विचारों के क्षेत्र में पहले भक्ति-मार्ग को प्रशस्त करना आवश्यक था। जब तक भक्ति धर्म को दार्शनिक एवं शास्त्रीय आधार प्राप्त न हो जाय, तब तक शंकराचार्य का तर्कसम्मत एवं सर्वस्वीकृत अद्वैत-सिद्धान्त का खंडन किस प्रकार मान्य हो सकता था। भक्ति-सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों की समझ में यह बात आ गई। अतः उन्होंने किसी न किसी अंश में अद्वैत सिद्धान्त को ग्रहण किया, किन्तु साथ ही उनकी ऐसी व्याख्यायें, प्रस्तुत की जिनसे जीव और ब्रह्म में प्रेम-भक्ति का संबंध कल्पित हो सका। दक्षिण भारत के आचार्यों को ही यह गौरव प्राप्त है। नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्यों के नाम इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी अन्तिम तीन आचार्यों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इन आचार्यों की भक्ति वैसे तो १२वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गई थी, किन्तु भक्ति का व्यापक प्रचार रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर रामभक्ति का देशव्यापी प्रचार करने वाले गुरु रामानन्द के आविर्भाव के पश्चात् ही हो सका। कबीर और तुलसी दोनों सम्भवतः इन्ही के अनुयायी थे। कृष्णभक्ति का प्रचार करने वालों में वल्लभाचार्य का स्थान अग्रगण्य है। यद्यपि कृष्ण-भक्ति का प्रचार भी १२वीं शताब्दी से ही हो रहा था, किन्तु इसको भी लोकप्रियता १५वीं शताब्दी से पूर्व प्राप्त नहीं हुई। कृष्ण-भक्ति का अधिकांश प्रचार उन भक्तों के द्वारा हुआ जो वल्लभाचार्य और चैतन्य के समय में हुए; अथवा १६वी शताब्दी में सखी सम्प्रदाय के

प्रवर्तक स्वामी हरिदास जैसे भक्तों द्वारा हुग्रा। भक्तराज सूरदास का जन्म १५वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में माना जाता है और स्वर्गवास १६वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में। महाकवि सूरदास इन भक्तों में प्रत्येक दृष्टि से अग्रगण्य हैं। सूरदास श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के ही अनुयायी थे। वैसे तो 'अष्टछाप' में बल्लभाचार्य द्वारा परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास, सूरदास तथा वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ द्वारा सम्मिलित चतुर्भुजदास, नन्ददास, गोविंद स्वामी तथा छीतस्वामी ग्राठ कृष्ण भक्ति कवि हैं, किन्तु इन सब में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्न २—उपलब्ध सामग्री के आधार पर सूरदास के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालिये।

भारतीय ऋषि एवं महात्मा प्राचीन काल से ही भक्त, परोपकारी, ज्ञानी एवं वैरागी रहे हैं। उनके नाम को लोकप्रियता अथवा यश प्राप्त हो, इसकी चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की। अतः कुछ रचना करते हुए भी वे अपना परिचय न दे सके। आत्म-प्रदर्शन की भावना से वे कोसों दूर थे। वास्तव में वे तो प्रत्यक्ष से नहीं, परोक्ष से प्रेम करते थे। वे अपने आराध्य देव की गाथा गाते-गाते उनके प्रेम में इतने निमग्न हो जाते थे कि उन्हें अपने विषय में कुछ कहना याद ही नहीं रहता था और वे अपने विषय में कुछ कहने की वे आवश्यकता नहीं समझते थे। फलतः इनके जीवन वृत्त के विषय में प्रामाणिक रूप में कुछ भी कहना बड़ा कठिन हो जाता है ठीक यही बात महात्मा सूरदास के जीवनवृत के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है।

किसी भी कवि की जीवनी के सम्बन्ध में जानने के लिए मुख्य रूप से दो साधन प्रयोग में लाये जाते हैं—

(१) अन्तः साक्ष्य

(२) बाह्य साक्ष्य।

अन्तः साक्ष्य से तात्पर्य उस सामग्री से है जो स्वयं कवि द्वारा अपनी रचनाओं में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में कही गई है। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत उस

कवि के समय के तथा कुछ बाद के लेखकों के कथन भी हैं जो उन्होंने उस कवि के विषय में कहे हैं। कभी कभी कुछ सामग्री किवदन्ति जनश्रुतियों से भी प्राप्त हो जाती है। इन्हीं साधनों का आधार लेकर सूरदास के जीवनवृत्त पर प्रामाणिक रूप में प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

जन्मतिथि

जन्मतिथि के विषय में स्वयं सूरदास जी ने तो कुछ कहा ही नहीं है, उसका उल्लेख किसी ग्रन्थ में भी नहीं है। किन्तु, हाँ, 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' के एक-एक पद के आधार पर विद्वानों ने इनके जन्म की भिन्न-भिन्न तिथियाँ निश्चित की हैं। वे दोनों पद ये हैं—

१. "गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कियो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥"
—सूरसारावली

२. "मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि, सुबल संबल देख॥
नंद-नंदन मास छै ते हीन तृतीया बार।
नंद-नंदन जनमते हैं बान सुख आगार॥
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नंद-नंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन॥"
—साहित्य-लहरी

'सूरसारावली' के उपर्युक्त पद के आधार पर सभी विद्वान् 'सूरसारावली' की रचना के समय सूर की आयु ६७ वर्ष ठहराते हैं, किन्तु 'साहित्य लहरी' के इस पद के 'रसन' शब्द पर बड़ा वाद-विवाद हुआ है। कोई 'रसन' का अर्थ रस से हीन अर्थात् शून्य कह कर इस ग्रंथ का निर्माण काल सं० १६०७ निश्चित करते हैं। कोई रसना अर्थात् जिह्वा कह कर उसके कार्यानुसार संख्या का वाची मान कर इसका रचना काल सं० १६१७ ठहराते हैं। श्री

१. शर्मा रसना का अर्थ उसके कार्यानुसार (स्वाद और वाक्) मानकर

उसे २ का संख्यावाची मान लेते हैं और इस ग्रंथ का रचना-काल स० १६२७ निश्चित करते हैं। इस प्रकार इन दोनों ग्रंथों के रचनाकाल निश्चित कर लेने पर कुछ विद्वानों को एक बुद्धिमत्ता सूझी। इन्होंने इन दोनों ग्रंथों को एक साथ की रचना बना कर सूरदास जी का जन्म सवत् १५४० ठहराया, किन्तु जब तक वे इस बात का प्रमाण उपस्थित न कर दें कि ये दोनों ग्रंथ एक साथ कैसे लिखे गये तब तक इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्री नलिनीमोहन सान्याल का मत भी इस विषय में दर्शनीय है। उनका कथन है—

"चैतन्य महाप्रभु का जन्म ई० १४८५ (संवत् १५४२) में हुआ था। कुछ प्रमाण मिले हैं कि महात्मा सूरदास का जन्म चैतन्य महाप्रभु के जन्म के १ वर्ष पहले हुआ था।"

इस प्रकार सान्याल जी द्वारा भी सूरदास का जन्म संवत् १५४०-४१ के निकट ही ठहरता है, किन्तु सान्याल जी ने अपने इस कथन का कोई प्रमाण नहीं दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त दो अन्त.साक्ष्यों के आधार पर सूरदास की जन्मतिथि निश्चित नहीं हो सकी। अब बहिसाक्ष्य के आधार पर कुछ निश्चय करने का प्रयत्न किया जाता है।

पुष्टि-सम्प्रदाय में महात्मा सूरदास वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे माने जाते हैं। श्री गोकुलनाथ जी की 'निजवार्ता' की 'सो श्री आचार्य जी सों दिन दस छोटे हुते' पंक्ति इसका सबसे अधिक प्राचीन प्रमाण है। दस दिन छोटे होने का उल्लेख कुछ अन्य पुराने भक्तों एवं लेखकों ने भी किया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने भी नाथद्वारे में यही खोज की है। श्री आचार्य जी का जन्म स० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ रविवार को हुआ था, अतः सूरदास की जन्मतिथि इस गणना के आधार पर सं० १५३५ वैशाख शुक्ला ५ ठहरती है। बड़ौदा कलिज के प्रोफेसर श्री भट्टजी का विचार भी इस विषय में महत्वपूर्ण है। इन्होंने 'आचार्य जी के जीवन-विषयक समस्त ग्रन्थों का आधार लेकर उनका जन्म-संवत् १५३० माना है।

इस प्रकार विवाद के आधार पर हम यही कहना उचित समझते हैं कि सूरदास का जन्म सं० १५३० अथवा सं० १५४० या इसी इन वर्षों के समय में कभी हुआ होगा।

जन्मस्थान

सूरदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् मथुरा और आगरे के बीच स्थित रुनकता नामक ग्राम को इनका जन्म स्थान बताते हैं, किन्तु इसके लिए उनके पास पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार जो सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है सूरदास जी का जन्म सीही नामक ग्राम में हुआ था। 'सीही' को कई विद्वान् पहले मथुरा में मानते थे, पर अब सभी विद्वान इसकी स्थिति दिल्ली के पास मानते हैं। विद्वानों का बहुमत 'सीही' के पक्ष में है। 'सूर-निर्णय' के रचयिता श्री परीख और मीतल ने बहुत ही प्रबल शब्दों मे इस पक्ष का समर्थन किया है—

"हम सूरदास का जन्म-स्थान दिल्ली के निकटवर्ती सीही ग्राम को मानने के लिए विवश हैं।"

जाति—

सूरदास के वंश-परिचय के सम्बन्ध में 'साहित्य-लहरी' का यह द्रष्टव्य है—

> प्रथम ही प्रथु जगाते भे प्रकट अद्भुत रूप।
> ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
> तासु वंश प्रसंस में भौ चन्द चारन नवीन॥
> भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देश।
> तनय ताके चार कीन्हीं प्रथम आप नरेस॥
> दूसरे गुन चन्द ता सुत सील चन्द सरूप।
> वीर चन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥"

इस पद की प्रथम पंक्ति मे प्रयुक्त 'पृ-थु-जगा' शब्द विचारणीय है। भिन्न-भिन्न प्रतियों में यह भिन्न-भिन्न पाठान्तर से मिलता है। कहीं

'पृथ जगाते' और कहीं 'पृथ जगत' रूप में यह शब्द प्राप्त होता है। इसी पाठान्तर के कारण श्री मिश्रबन्धु तथा नलिनीमोहन सान्याल सूरदास को चन्द्रबरदाई का गोत्रवाचक कह कर उन्हें पार्यज गोत्री मान लेते हैं। कुछ विद्वान् 'जगात' का अर्थ भाट लगा कर इन्हें भाट कह देते हैं, किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल 'पृथु जगा' पाठ को ही मानते हैं और इसे गोत्र या जातिसूचक नहीं मानते। कुछ भी हो, इस पद के अनुसार सूरदास जी चन्द्रबरदाई के वंशज ठहरते हैं। इसके अनुसार उनके छः बड़े भाई थे तथा सूरदास सातवें सबसे छोटे थे। सर जार्ज ग्रियर्सन, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनि, मुन्शी देवीप्रसाद आदि विद्वान् भी सूरदास को चन्द्रबरदाई का ही वंशज मानते हैं। आगरे का 'एजुकेशनल गजट' तथा 'कल्याण का योगांक' भी सूर को चन्द्रबरदाई का ही वंशज मानता है। पं० हरप्रसाद जी शास्त्री नागौर निवासी श्री नानूराम भाट के पास से प्राप्त हुई वंशावली को प्रामाणिक मानते हैं। 'साहित्य-लहरी' में दी हुई वंशावली की परम्परा यद्यपि शास्त्री जी की इस खोज की परम्परा से कुछ भिन्नता रखती है किन्तु इतना दोनों में निश्चित है कि सूरदास जी चन्द्रबरदाई के वंशज थे। 'भविष्य पुराण' भी सूर को चन्द्रभट्ट वंश का बताता है।

इसके अतिरिक्त एक मत और भी है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी यदुनाथ तथा विट्ठलनाथ जी के अपने सेवक श्रीनाथ भट्ट और इन्हीं के समकालीन प्राणनाथ कवि ने सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण बताया है। ये लेखक सूरदास के समकालीन थे, अतः उपर्युक्त विद्वानों की अपेक्षा इनके मत पर अधिक विश्वास किया जा सकता है। सागर विश्वविद्यालय से हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन इस विषय में दृष्टव्य है—

"यदि सूरदास को चन्द्रबरदाई का वंशज मान जाये तो चन्द्रबरदाई को या तो ब्राह्मण होना चाहिये या सूरदास को भाट। परन्तु दोनों ही बातें प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर तथ्य पूर्ण नहीं सिद्ध होतीं।"

अतः निश्चित सा है कि सूरदास जाति से ब्राह्मण थे। कहीं कहीं ब्राह्मण शब्द का तिरस्कृत रूप में प्रयोग देखकर जो उन्हें ब्राह्मण मानने से विरोध

करते हैं, [illegible] सिद्ध [illegible] है। [illegible]
[illegible] का कोई [illegible] नहीं होता। [illegible] सूर [illegible]

सूरदास के पिता

[illegible] सूरदास के पिता का नाम जो उनके जीवन सम्बन्धी ग्रंथों में उल्लिखित है और न वार्तासाहित्य के लेखक 'हरिराय-जी' ने दिया है। हाँ 'आईने अकबरी' में ग्वालियर निवासी रामदास व उनके पुत्र सूरदास का नाम अवश्य लिया मिलता है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् सूर को अकबर का दरबारी कवि होना तथा रामदास को उनका पिता होना मान लेते हैं। इस ग्रंथ में रामदास को बैरागी कहा गया है। सूर भी भक्त होने के कारण बैरागी ही थे। पर कुछ विद्वानों ने रामदास को इनका पिता मानने में कोई संकोच नहीं किया है। सूर के जीवनवृत्त पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अकबर के दरबारी कवि नहीं थे। 'वार्ता' के अनुसार सूरदास अकबर द्वारा दरबार में गाने के लिए बुलाये गये थे। यदि सूर रामदास के पुत्र होते और अकबर के दरबारी कवि होते तो अकबर को इस प्रकार बुलाने की क्या आवश्यकता थी? अतः स्पष्ट है कि सूर के पिता का नाम रामदास नहीं था।

पं० नानूराम से श्री मुन्शीराम शर्मा ने पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त वंशावली में सूर के पिता का नाम 'रामचन्द्र' घोषित किया है और वैष्णवों में उसी का नाम 'रामदास' अनुमानित किया है। इस अनुमान में सबसे बड़ा दोष यह है कि नानूराम वाली वंशावली ही अप्रमाणिक है। अतः यह अनुमान अशुद्ध और निराधार है।

डा० हरबंसलाल ने अपने ग्रंथ 'सूर और उनका साहित्य' में इस मत का खंडन करते हुए लिखा है—

"तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों में सूरदास के पिता रामदास का उल्लेख होने से यह भ्रांति और भी दृढ़ हो गई। इसी को प्रमाणित करने के लिए आलोचकों ने अनेक तर्क दिए और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने 'सूरदास-जीवन-सामग्री' में इसको पूर्ण रूप से पुष्ट करके सिद्ध करने की
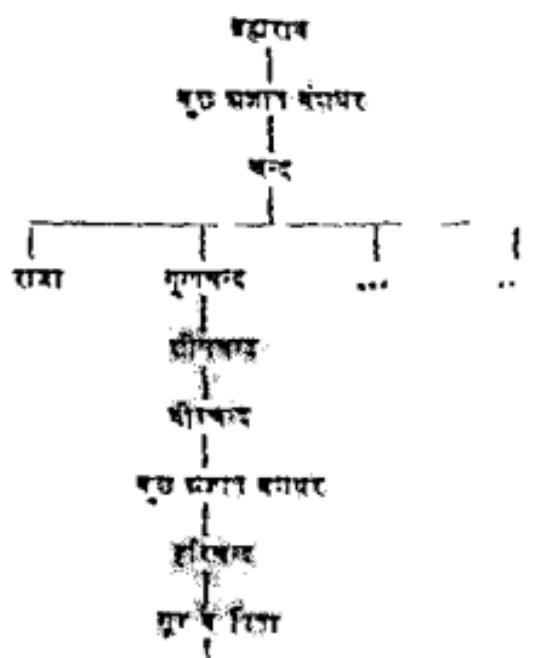
थे। किन्तु वे अन्धे जन्म से थे अथवा बाद में हुए, इस विषय में विद्वानों के मुख्यतः दो वर्ग हैं। एक वर्ग इन्हें जन्मान्ध मानता है और दूसरा वर्ग यह मानता है कि ये जन्मान्ध नहीं थे, वरन् बाद में अन्धे हुए। इस व के विद्वानों का तर्क है कि सूर के काव्य में हावों-भावों, जीवन तथा शरीर ं सूक्ष्म व्यापारों एवं प्रकृति के विविध-क्रिया-कलापों का जो यथातथ्य वर्ण मिलता है वह किसी जन्मान्ध से संभव नहीं है। इस तर्क का खंडन सूर क जन्मान्ध मानने वाले विद्वानों ने यह कह कर किया है कि कवि एवं महात्माअं को दिव्य नेत्रों से सब कुछ दिखाई दे जाता है। इसके अतिरिक्त 'रामरसि कावली' 'भक्त विनोद' आदि ग्रंथों की कुछ पंक्तियाँ सूर की जन्मान्धता घोषित करती हैं। इनके समकालीन कवि श्रीनाथ भट्ट, प्राणनाथ आदि भी उन्हें जन्मान्ध ही बताते हैं। श्री मीतल जी ने अपने 'सूर निर्णय' नामक ग्रंथ में कुछ ऐसे पद खोज कर उद्धृत किये हैं जिनसे इनकी जन्मान्धता का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। यदि इनके ये पद प्रामाणिक सिद्ध हो गये तो यह विवाद सदा के लिये समाप्त हो जायेगा।

इस विषय में विद्वानों का एक तीसरा वर्ग भी है जो सूरदास को अन्धा नहीं, बल्कि काना मानता है। इस मान्यता का आधार भी सूर के अनेक पद हैं जिनमें से कुछेक ये हैं—

"अब हौं माया हाथ बिकानौ।
परबस भयौ पसू ज्यौं रजु बस भज्यौ न श्रीपति रानौ।।
× × × ×
अपने ही अज्ञान तिमिर में बिसर्‌यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँख है, ताहु में कछु कानौ।।"
× × × ×
नेम, धर्म, व्रत, जप, तप, संजम, साधु संग नहिं चीनौ।
दरस मलीन, दीन दुर्बल अति, तिनको मैं दुख दीनौ।।'
× × × ×
'द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।
बिनु देखे कल परत नहीं छिनु, एते पर कीन्हों यह टेऊ।।'

जब तक पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते, तब तक निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि सूर जन्मांध थे, बाद में अन्धे हुए, अथवा एक आँख से रहित थे। लगता ऐसा है कि सूरदास जन्मांध थे, क्योंकि सूर का अर्थ ही विगतचक्षु है। यदि यह कहा जाये कि वे बाद में भी अन्धे हो सकते हैं तो इस अनुमान में सब से बड़ी त्रुटि यह है कि सूरदास का सूर के अतिरिक्त और कोई पहला नाम नहीं मिलता। बिल्वमंगल की कथा तो सूर के जीवनवृत्त से अन्यथा सिद्ध हो चुकी है।

प्रारम्भिक जीवन तथा गुरु दीक्षा

कहा जाता है कि सूरदास छः वर्ष की आयु में ही घर त्याग कर चले गये थे और गाँव से बाहर जाकर एक कुटी में रहने लगे थे। जनश्रुति है कि उन्होंने छः वर्ष की ही अवस्था में अपने पिता की खोई हुई मुहरों का पता बतला दिया था जिससे इस विषय में उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी। कुछ दिनों के पश्चात् वे मथुरा चले आये और यहाँ गऊघाट पर रहने लगे। सन् १५१० ई० के लगभग यहीं उन्हें श्री वल्लभाचार्य का दर्शन-लाभ हुआ। आचार्य ने जब इनसे कुछ पद सुनने की इच्छा प्रगट की तो उन्होंने ये दो पद सुनाये :—

"प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के हौं तो जनमत ही को ॥"

× × × ×

"मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जेहि तनु दियो ताहि बिसारियो ऐसो कौन हरामी ॥" आदि

इन पदों को सुनकर आचार्य जी बहुत प्रभावित हुए, किन्तु उन्हें सूर की दैन्य भावनायें रुचिकर नहीं लगी। उन्होंने आदेश दिया—"सूर ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है कछु भगवत—लीला वर्णन करि।"

उन्होंने इसके पश्चात् सूर को पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया और कृष्ण-लीला से अवगत कराया।

दीक्षा के पश्चात्

वल्लभाचार्य सूर को अपने साथ गोकुल से गये और वहाँ इन्हें नवनीत प्रिया के दर्शन कराये। यहाँ सूर ने 'सोभित कर नवनीत लिए', जैसे पद गाये। यहीं पर आचार्य जी ने भागवत की सारी लीला सूर के हृदय में स्थापित कर दी। कुछ दिन यहाँ रहने के पश्चात् आचार्य जी सूर को ब्रज ले गये और वहाँ गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के दर्शन कराये। यहाँ भी सूर ने उन्हें कुछ पद सुनाये। आचार्य जी ने प्रसन्न होकर सूर को इस मन्दिर का कीर्तन-भार सौंप दिया। यहाँ सूर ने श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए सहस्रों पदों की रचना की। अब इनकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई। तत्कालीन महान् मुगल शासक अकबर ने भी इनसे मिलने की इच्छा प्रगट की। कहा जाता है कि सूर अकबर से मिले और इन्होंने उसे भी कई पद सुनाये।

वल्लभाचार्य के निधन के पश्चात् पुष्टि-सम्प्रदाय का आचार्यत्व गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ग्रहण किया। संवत् १६०२ में इन्होंने अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवियों को छाँटकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। इन आठों में सूरदास का स्थान सर्वोच्च था।

संवत् १६१६ के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथ जी जब जगन्नाथपुरी की यात्रा को गये तो सूर को भी अपने साथ ले गये थे। मार्ग में कामतानाथ पर्वत पर सूर की गोस्वामी तुलसीदास जी से भेंट हुई।

निधन

जन्म-संवत् के समान ही सूरदास का निधन-संवत् भी [illegible] ही विवादग्रस्त है। डा० रामकुमार वर्मा सूर का जन्म सं० १५४० में मानकर [illegible] निधन संवत् १६२० ठहराते हैं। श्री [illegible] जी भी इसी मत के समर्थक हैं। [illegible] के आधार पर इनका सं० [illegible] तक जीवित रहना [illegible] है। सं० १६२० के बाद तक जीवित रहना [illegible]

[illegible]

गृह-मंत्री पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र की खोजों से विदित होता है कि सं० १६२० में श्री विट्ठलनाथ जी ने रानी दुर्गावती से विवाह किया था। क्या स्वामी विट्ठलनाथ अपने सम्प्रदाय के महान् प्रभावशाली भक्त सूरदास की मृत्यु के वर्ष में ही अपना विवाह रचा सकते थे? इसी प्रकार अकबर को सूरदास के मिलने की इच्छा तानसेन द्वारा सूरदास का एक पद सुनाने पर हुई थी। तानसेन स० १६२१ में अकबर के दरबार में आये थे। अत निश्चित है कि सूर और अकबर की भेट सं० १६२१ के पश्चात् ही हुई और सूर स० १६२१ के पश्चात् तक जीवित थे। 'श्रीमद्भागवत' के अणुभाष्य' की भूमिका मे स्पष्ट है कि अकबर संवत् १६२८ मे काशी गया था। हरिराय जी ने 'वार्ता' की टीका में काशी में ही सूर और अकबर की भेंट होना लिखा है। अतः सम्भव है कि सूर सं० १६२८ तक भी जीवित थे। श्री मीतल जी ने सूर का सवत् १६६० तक जीवित रहना बताया है। किन्तु इतना तो नही, हमे श्री मीतल जी का यह मत मान्य हो सकता है कि सूरदास जी स० १६४० तक उपस्थित थे।

इस प्रकार यह तो निश्चित सा ही है कि सूरदास का निधन सवत १६२० में नही हुआ। उपर्युक्त अनुमानों के आधार पर उन्हें स० १६४० तक जीवित माना जा सकता है। इसके पश्चात् वे कब गोलोक वासी हुए, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि वे उस पद की समाप्ति के अनन्तर इस नश्वर शरीर को त्याग कर चले गये—

"खजन नैन रूप रस माते।"

प्रश्न ९—सूरदास जन्म से अन्धे थे अथवा बाद में हुए, इस वादविवाद पर प्रकाश डालिये।

महात्मा सूरदास जन्म से ही अन्धे थे अथवा बाद मे उनके नेत्र ज्योति-हीन हुए, इस विषय मे विद्वानो मे बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें जन्म से ही अन्धा मानते हैं और कुछ इन्हें बाद मे अन्धा हुआ बताते हैं। इतना सभी

मानते हैं कि वे अन्धे थे। 'सूरसागर' के विनय के पदों में इनके अन्धे होने यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा—

"रहौ मिय आँखि के अन्ध भव त्राण लै।"

× × × ×

"सूर कामी कुटिल सरन आयो।"

× × × ×

"सूरदास सौं कहा निहोरी नैनन हूँ की हानि।"

× × × ×

"सूर कूर आँधरो, मैं द्वार परयो गाऊँ।"

× × × ×

"कर जोरि सूर बिनती करै, सुनहुन ही रुक्मनि रवन।
काटौ न फंद मो अंध के, अब बिलंब कारन कवन।।"

× × × ×

"सूरदास अंध अपराधी, सो काहे बिसरायो।"

× × × ×

"ऐसो अंध अधम अविवेकी खोटनि करत खरे।"

× × × ×

"इत-उत देखत जन्म गयो
या झूठी माया के कारन दुहूं दृग अंध भयो।"

जन्मांध नहीं थे

उपर्युक्त पदों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि सूरदास जी अन्धे थे, किन्तु यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि वे जन्मान्ध थे अथवा बाद में किसी कारणवश अन्धे बने या हो गये थे। जो विद्वान् इन्हें बाद में अन्धा हुआ मानते हैं उनमें से कई विद्वानों ने इनके बाद में अन्धा होने के लिये कुछ घटना या घटनायें प्रस्तुत की हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में से भी एक दो पंक्तियाँ इस बात का संकेत देती हैं कि सूर के जीवन में कोई ऐसी घटना घटी होगी जिससे सूर को वैराग्य की भावना ने अथवा किसी कटु अनुभव ने अन्धा बना दिया होगा। श्री मिश्रबन्धु ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नवरत्न' में बिल्वमंगल सूरदास के जीवन की वह घटना जिसमें

वेश्या के प्रति उत्कट वैराग्य-भावना हो जाने के फलस्वरूप सूरदास को अपनी आँखें फोड़ लेनी पड़ी थी, इन्हीं महात्मा सूरदास के जीवन से सम्बन्धित बताई है। किन्तु हमें इसमें कोई विश्वास नहीं है। इसका कारण यह है कि बिल्वमंगल सूरदास बनारस के पास स्थित कृष्णवेला के निवासी थे। अतः इस बिल्वमंगल सूरदास और उसके जीवन में घटी इस घटना का हमारे चरित्र नायक महात्मा सूरदास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जो विद्वान् उनकी जन्मान्धता पर विश्वास नहीं करते उनमें डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत भी दर्शनीय है। उन्होंने 'अष्टछाप' नामक ग्रंथ में सूरदास की वार्ता में चौथी वार्ता के अन्तर्गत 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के आधार पर कहा है कि सूरदास ने चौपड़ खेलते हुए लोगों को देखकर कहा—

"सो या चौपड़ में ऐसे लीन हैं जो कोऊ आवते-जावते की सुधि नाहीं·········जो देखो वह प्राणी कैसो अपनो जनमारो खोवत है।"

उनका कथन है कि यदि सूरदास जी जन्म से अन्धे होते तो चौपड़ खेलते हुए लोगों को वे कैसे देख लेते? इस उदाहरण का खंडन तो इसी बात से हो जाता है कि गोटों की ध्वनि और पौ बारह आदि को सुनकर अनुमान से साधारण अन्धा भी कह सकता है कि यहाँ चौपड़ हो रही है।

इसी प्रकार सूर को जन्मान्ध मानने वाले विद्वानों के एक वर्ग का कहना है कि उनके काव्य में रंगों, हावो-भावों, जीवन तथा शरीर के सूक्ष्म व्यापारों, प्रकृति के विविध क्रियाकलापों के जो सजीव वर्णन प्राप्त हैं, स्पष्टतः इस तथ्य के परिचायक हैं कि ऐसी रचना जन्म से अन्धा कवि नहीं कर सकता। किन्तु इन तर्कों के आधार पर सूरदास की जन्मान्धता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सूरदास पहुँचे हुए महात्मा थे। भगवान के ऐसे सच्चे भक्त पृथ्वी पर कम ही मिलेंगे। ऐसे भक्तों से भगवान भी बड़ा प्रेम करते हैं, और भगवान् की शक्ति से कुछ भी परे नहीं होता। स्वयं सूरदास जी ने अपने एक पद में लिखा है कि उनकी कृपा से तो अघटित घटना भी घटित हो सकती है। पंगु गिरि को लाघ सकता है तथा अन्धे को सब कुछ दिखाई दे सकता है।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के आचार्य के दीक्षा लेने के प्रसंग में यह वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि सूर चक्षुयुक्त थे।

'तब सूरदास जी अपने स्थल तें आयके श्री आचार्य जी महाप्रभुन के दर्शन को आये तब श्री आचार्य जी प्रभुन ने कह्यो श्री सूरदास आवो बैठो। तब सूरदास श्री आचार्य जी महाप्रभुन को दर्शन करिकें आगे आय बैठे।'

चक्षुविहीन सूर किस प्रकार महाप्रभु के दर्शन कर सकते थे।

जन्मांध थे

जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि सूरदास जी भगवान् के अनन्य भक्त थे। उनके पास दिव्य चक्षु थे जिनसे उन्हें सब-कुछ दिखाई देता था। यदि यह बात नहीं थी तो हमारा प्रश्न है कि उन्होंने बाद में जो 'नवनीत प्रिया' के दर्शन किये वे कैसे कर लिए? इस बात को तो सभी मानेंगे कि सूर अपने अन्तिम समय मे अन्धे अवश्य थे। मृत्यु के समय भी जब हमें गोस्वामी विट्ठलनाथ के दर्शन का उल्लेख प्राप्त हो जाता है तो फिर जो अन्धे सूर मृत्यु के समय श्री विट्ठलनाथ के दर्शन कर सकते थे तो क्या वे पहले भी अन्धे होकर दर्शन नही कर सकते थे।

वास्तव मे बात यह है कि सूरदास भगवान् के सच्चे भक्त थे। अघटित घटना को भी घटाने वाले भगवान् के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ रहस्य भी नहीं छिप सकते। उदाहरण के लिए जन्मान्ध नाभा जी प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द जी आदि अनेक महात्माओं के वर्णन उपस्थित किये जा सकते हैं। जिनसे स्पष्ट यह विदित हो जाता है कि जन्मान्ध व्यक्ति भी मानव-लीलाओं एवं भावनाओं का अनुभव किया हुआ-सा वर्णन कर सकता है। वास्तव में कवि एवं महात्माओं के दिव्य नेत्रों तथा हमारे नेत्रों में बड़ा अन्तर है। 'सूर निर्णय' के लेखक श्री मीतल जी का कथन इस विषय में दृष्टव्य है। उन्होंने उपनिषद, सूरके पद, वल्लभ के दर्शन तथा पौराणिक महापुरुषों के वाक्य आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है—

मानना होगा कि सूरदास महाप्रभु की कृपा से तत्वज्ञानी और करने वाले पूर्ण भक्त हो चुके थे। वे स्वयं-प्रकाश हो चुके थे।

अतएव बाह्य चक्षुओं के आश्रित नहीं थे। उन्होंने जो कुछ भी वर्णन किया है वह अपनी आध्यात्मिक ज्ञान शक्ति के आधार पर किया है।"

इस प्रकार यह तो निश्चित है कि सूर ने अपनी रचनायें अन्धे की अवस्था में ही की थी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यदि वे जन्मान्ध भी होते तो भी वे ऐसी रचनायें कर सकते थे, किन्तु तो भी यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि वे जन्मान्ध ही थे। उपर्युक्त समस्त विवेचन यह तो प्रमाणित करता है कि वे जन्म से भी अन्धे हो सकते हैं किन्तु कोई निश्चय हम अभी तक नहीं निकाल सके। उनकी जन्मान्धता के प्रमाण में हम कुछ विद्वानों के मत अवश्य उद्धृत कर सकते हैं। सूरदास के समकालीन लेखकों पर कुछ अधिक विश्वास किया जा सकता है। श्रीनाथ भट्ट का, जो सूरदास के ही समकालीन थे, कथन है—

"जन्मांधो सूरदासोवभूत"

अर्थात् सूरदास जी जन्म से ही अन्धे थे। इसी प्रकार प्राणनाथ कवि ने भी सूर को जन्माध कहा है—

"बाहर नैन विहीन सो भीतर नैन विसाल।
जिन्हें न जग कछु देखिबो लखि हरि रूप निहाल ॥"

'रामरसिकावली' में इस विषय में लिखा है—

"जनमहिते हैं नैन विहीना।"

'भक्त विनोद' में भी यही बात लिखी है—

"जन्म अन्ध दृग ज्योति विहीना।"

'भाव प्रकाश' के लेखक हरिराय जी के मतानुसार जन्मान्ध सूर कहलाता है और जन्म के पश्चात् अन्धा होने वाला अन्धा कहलाता है। सूर को जन्मान्ध ही मानते हैं—

'सूरदास को जन्म ही सों नेत्र नाहीं हैं।'

'सूर-निर्णय' नामक ग्रंथ के विद्वान् लेखक ने खोज कर सूरदास के कुछ

ऐसे पद उद्धृत किये हैं जिनसे सूर के जन्मान्ध होने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। उन पदों की मुख्य पंक्तियाँ ये हैं—

"सूर की बिरियां निठुर होइ बैठे, जन्म अंध करयो।"

× × × ×

"रह्यो जात एक पतित, जनम को आंधरो 'सूर' सदा को।"

× × × ×

"करमहीन जनम को अंधो मों तें कौन नकारो।"

उपर्युक्त समस्त विवरण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अभी तक सूरदास की अंधता का विषय किसी निश्चय को नहीं पहुँच सका है। यह तो सभी मानते हैं कि सूरदास जी अन्धे थे, किन्तु वे अन्धे जन्म से ही थे अथवा बाद में हुए यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। अधिक प्रमाण सूर को जन्मान्ध ही सिद्ध करते चल रहे हैं। अतः हम सागर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में यही कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं—

"इनके (सूर की जन्मान्धता के) विरोध में ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि वे जन्मान्ध न थे। केवल उनके काव्य के वर्णित विषयों और वस्तुओं के आधार पर उन्हें जन्मान्ध नहीं माना जाता, जो विशुद्ध अनुमान है और प्रमाणों से अपुष्ट है।"

प्रश्न ४—सूरदास की रचनाओं पर प्रामाणिकता एवं विषय की दृष्टि से विचार कीजिये।

हिन्दी साहित्य सम्बन्धी खोजों के इतिहास में नागरी प्रचारिणी सभा काशी का कितना हाथ है यह किसी से छिपा नहीं है। हिन्दी भाषा अपने विकास के लिए इस सभा की सदैव ऋणी रहेगी। हिन्दी के लेखकों में जो स्तम्भ माने जाते हैं उनमें से अधिकांश लेखकों ने इसी सभा के आश्रय में कार्य किया था। सैकड़ों वर्ष सराहनीय खोजों को करने वाली इस सभा ने जो खोज की है उसके अनुसार सूरदास द्वारा रचित १६ रचनाएँ हैं। इन रचनाओं के नाम इस प्रकार से हैं (१) सूरसागर

(२) सूर सारावली (३) साहित्य-लहरी (४) गोवर्धन लीला बड़ी (५) दशमस्कन्ध टीका (६) नागलीला (७) पद संग्रह (८) प्राण प्यारी (९) व्याहलो (१०) भागवत भाषा (११) सूर पच्चीसी (१२) स्फुट पद (१३) सूर सागरसार (१४) एकादशी महात्म्य (१५) राम जन्म (१६) नल दमयन्ती।

सूरसागर

'सूरसागर' महात्मा सूरदास की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसी एक रचना के कारण सूरदास हिन्दी-साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर गये हैं। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार जिस समय सूरदास जी गऊ-घाट पर संन्यासी वेश मे रहते थे, उस समय भी वे पद-रचना करते थे। इनकी पद-रचना और गान विद्या की उस समय भी ख्याति थी। उस समय तक वे महाप्रभु बल्लभाचार्य द्वारा पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित नही हुए थे तथा उन्हें कृष्ण-लीला का परिचय नही मिला था। इस समय तक उनकी भक्ति-भावना का मूल आधार दैन्य-भाव था। वार्ता के इस कथन को यदि प्रामाणिक माना जाय तो कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' के आदि के विनय-संबन्धी पद इसी समय रचे गये होंगे। नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण मे इन पदों की संख्या २२३ है तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस से जो संस्करण निकला था, उस में इन पदों की संख्या केवल ११२ है।

पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने तथा कृष्ण की लीला से परिचित होने के पश्चात् सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत के अनुसार कृष्ण लीला सम्बन्धी पदो की रचना की। आचार्य जी द्वारा 'श्रीनाथ' जी की सेवा का अवसर प्राप्त होने के फलस्वरूप सूर ने नित्य प्रति पद-रचना करने की प्रेरणा प्राप्त की। इनका रचना-काल अनुमान से ८० वर्ष से भी अधिक समय तक का माना जाता है। इस लम्बे समय में सूर ने अवश्य ही सहस्रों पदो की रचना की होगी। 'वार्ता' के अनुसार इन्होने सहस्रो पद रचे जो 'सागर' कहलाये। 'वार्ता' के बाद के लेखों के अनुसार तो एक जनश्रुति भी प्रसिद्ध हो गई कि

ऐसे पद उद्धृत किये हैं जिनसे सूर के जन्मान्ध होने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। उन पदों की मुख्य पंक्तियाँ ये हैं—

"सूर की बिरियां निठुर होइ बैठे, जन्म अंध करयो।"

× × × ×

"रह्यौ जात एक पतित, जनम को आंधरो 'सूर' सदा को।"

× × × ×

"करमहीन जनम को अंधो मों तें कौन नकारो।"

उपर्युक्त समस्त विवरण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अभी तक सूरदास की अंधता का विषय किसी निश्चय को नहीं पहुँच सका है। यह तो सभी मानते हैं कि सूरदास जी अन्धे थे, किन्तु वे अन्धे जन्म से ही थे अथवा बाद में हुए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अधिक प्रमाण सूर को जन्मान्ध ही सिद्ध करते चल रहे हैं। अतः हम सागर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में यही कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं—

"इनके (सूर की जन्मान्धता के) विरोध में ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि वे जन्मान्ध न थे। केवल उनके काव्य के वर्णित विषयों और वस्तुओं के आधार पर उन्हें जन्मान्ध नहीं माना जाता, जो विशुद्ध अनुमान है और प्रमाणों से अपुष्ट है।"

प्रश्न ४—सूरदास की रचनाओं पर प्रामाणिकता एवं विषय की दृष्टि से विचार कीजिये।

हिन्दी साहित्य सम्बन्धी खोजों के इतिहास में नागरी प्रचारिणी सभा काशी का कितना हाथ है यह किसी से छिपा नहीं है। हिन्दी भाषा अपने विकास के लिए इस सभा की सदैव ऋणी रहेगी। हिन्दी के लेखकों में जो स्तम्भ माने जाते हैं उनमें से अधिकांश लेखकों ने इसी सभा के आश्रय में कार्य किया था। सैकड़ों ग्रन्थ सराहनीय खोजों को करने वाली इस सभा ने सूर सम्बन्धी जो खोज की है उसके अनुसार सूरदास द्वारा रचित १६ रचनायें बताई जाती हैं। इन रचनाओं के नाम इस प्रकार से हैं (१) सूरसागर

(२) सूर सारावली (३) साहित्य-लहरी (४) गोवर्धन लीला बड़ी (५) दशमस्कन्ध टीका (६) नागलीला (७) पद संग्रह (८) प्राण प्यारी (९) व्याहलो (१०) भागवत भाषा (११) सूर पच्चीसी (१२) स्फुट पद (१३) सूर सागरसार (१४) एकादशी महात्म्य (१५) राम जन्म (१६) नल दमयन्ती।

सूरसागर

'सूरसागर' महात्मा सूरदास की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसी एक रचना के कारण सूरदास हिन्दी-साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर गये हैं। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार जिस समय सूरदास जी गऊ-घाट पर संन्यासी वेश मे रहते थे, उस समय भी वे पद-रचना करते थे। इनकी पद-रचना और गान विद्या की उस समय भी ख्याति थी। उस समय तक वे महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित नही हुए थे तथा उन्हें कृष्ण-लीला का परिचय नही मिला था। इस समय तक उनकी भक्ति-भावना का मूल आधार दैन्य-भाव था। वार्ता के इस कथन को यदि प्रामाणिक माना जाय तो कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' के आदि के विनय-संबन्धी पद इसी समय रचे गये होंगे। नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में इन पदो की संख्या २२३ है तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस से जो संस्करण निकला था, उस मे इन पदों की संख्या केवल ११२ है।

पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने तथा कृष्ण की लीला से परिचित होने के पश्चात् सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत के अनुसार कृष्ण लीला सम्बन्धी पदो की रचना की। आचार्य जी द्वारा 'श्रीनाथ' जी की सेवा का अवसर प्राप्त होने के फलस्वरूप सूर ने नित्य प्रति पद-रचना करने की प्रेरणा प्राप्त की। इनका रचना-काल अनुमान से ८० वर्ष से भी अधिक समय तक का माना जाता है। इस लम्बे समय में सूर ने अवश्य ही सहस्रों पदो की रचना की होगी। 'वार्ता' के अनुसार इन्होने सहस्रों पद रचे जो 'सागर' कहलाये। 'वार्ता' के बाद के लेखों के अनुसार तो एक जनश्रुति भी प्रसिद्ध हो गई कि

सूरदास ने सवा लाख पदों की रचना की, किन्तु यह बात हमें कुछ पौराणिक सी जँचती है। इसका कारण यह है कि सूर के प्रस्तुत संस्करणों में सवा लाख तो क्या, इस संख्या के पच्चीसवें अंश के बराबर भी पद नहीं हैं। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों में तो कुछ ही प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें कठिनता से ४ हजार पद होंगे। स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसकी हस्तलिखित प्रतियों का संकलन कर नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वाधान में समुचित संपादन करके प्रकाशित कराने का आयोजन किया था, किन्तु श्रद्धेय विद्वान् ने अपना परिश्रम पदों के अधिकाधिक संग्रह में ही लगाया, इनकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता की ओर इन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसका थोड़ा सा ही अंश प्रकाशित हुआ था कि दुर्भाग्यवश वे संसार से चल बसे। इसके पश्चात् आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने उनके शेष कार्य को समाप्त किया और १७२४ पृष्ठों की दो जिल्दों में सूरसागर का ४९३६ पदों का वृहत्तर संस्करण प्रकाशित हुआ। विद्वान् सम्पादक ने अन्त में दो परिशिष्ट भी दिये हैं। प्रथम परिशिष्ट के पदों के सम्बन्ध में प्रामाणिकता की दृष्टि से बाजपेयी जी भी कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सके। अतः अभी तक इस विषय में शोध की आवश्यकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बाजपेयी जी का यह कार्य अवश्य ही स्तुत्य है क्योंकि आज जब वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण भी अप्राप्य हो गया है तो कम से कम 'सूरसागर' सुन्दर रूप में सूर के विद्यार्थी प्राप्त तो कर सकते हैं। इस संस्करण के अनुसार दशम स्कन्ध पूर्वार्ध में ४१६० पद हैं और उत्तरार्ध में २४९ पद हैं। जैसा हमने ऊपर बताया है कि इसमें कुल पदों की संख्या ४९३६ है। अतः दशम स्कन्ध के अतिरिक्त ५२७ पद और बचते हैं। दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण-लीला वर्णित है। ५२७ पदों में से २२३ पद विनय-सम्बन्धी हैं। नवम स्कन्ध में १६८ पद राम-कथा सम्बन्धी हैं। इस प्रकार १३६ पद बचे। इन पदों में दस स्कन्धों की कथा दी है।

'सूरसागर' के संबंध में दो मिथ्या धारणायें ... एक तो यह है

कि 'सूरसागर' कीर्तन के लिए रचे हुए प्रसंगहीन स्फुट पदों का संग्रह है, किन्तु 'सूरसागर' को स्फुट पदों का संग्रह मात्र ही कहना उचित नहीं जान पड़ता। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन इस विषय में दृष्टव्य है। उन्होंने इस विषय में कहा है—

"उसमें (सूरसागर में) एक कमबद्ध प्रबंध-कल्पना है और समूची प्रबन्ध कल्पना में अनाविल ढंग के सुगठन और संहिति का अभाव होते हुए भी उसके अंग रूप अनेक प्रसंग अत्यन्त सुगठित और अप्रतिहत लघु-प्रबन्धों के रूप में रचे मिलते हैं।"

'सूरसागर' के विषय में दूसरी मिथ्या धारणा यह है कि यह रचना 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद है। प्रथम और द्वितीय धारणा दोनों एक दूसरे की परस्पर विरोधी हैं। दूसरी धारणा पहली का स्पष्टरूप में निराकरण कर देती है। 'श्रीमद्भागवत' का 'सूरसागर' में केवल इतना ही आधार लिया गया है जितना कि कृष्ण की ब्रज-लीला की रूप-रेखाओं के निर्माण के लिए आवश्यक था। 'सूरसागर' में सूर ने अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। इसमें 'भागवत' के कितने ही प्रसंग, विवरण और सिद्धान्त सूर ने स्पर्श भी नहीं किये हैं। इस विषय में यही कहना अधिक उपयुक्त है कि सूर ने 'भागवत' का आधार अवश्य लिया है, किन्तु 'सूरसागर' 'भागवत' का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। इसमें सूर की मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं।

'सूरसागर' को सभी विद्वान् सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं। इसके रूप, पद-क्रम और पद संख्या आदि के विषय में चाहे विद्वानों में मतभेद हो, किन्तु इसकी प्रामाणिकता के विषय में कोई मतभेद नहीं है। यह सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है। कवि के कवित्व और भक्ति की महत्ता का यही एकमात्र आधार कहा जा सकता है।

सूर-सारावली

'सूर-सारावली' की कोई भी हस्तलिखित प्रति आज तक प्राप्त नहीं हुई। इसकी रचना का उल्लेख न तो 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में ही कहीं

दिखाई देता है और न 'भाव प्रकाश' में श्री हरिराय जी ने इसका कोई संकेत दिया है। वेंकटेश्वर प्रेस से जो 'सूरसागर' का संस्करण निकला था उसके साथ ही यह रचना संलग्न मिलती है, किन्तु यह किस हस्तलिखित प्रति के आधार पर छापी गई है इसका कोई पता नहीं चलता। इसका पूरा नाम छपा है—'श्री सूरदास जी रचित सूरसागर सारावली तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र'। किन्तु परीक्षा करने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह न तो 'सूरसागर' का सार ही है और न उसका सूचीपत्र। इसमें और 'सूरसागर' में अनेक विवरणगत विभिन्नतायें विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा, शैली और विचार धारा में भी 'सूरसागर' से पर्याप्त भिन्नता है। काव्य की दृष्टि से भी इस रचना का कोई मूल्य नहीं दिखाई देता। आरम्भ में तो सूरसागर' के प्रारम्भ का एक गेय पद है ही, शेष सारी रचना 'सार' 'सरसी' के छन्दों में हुई है। इन दोनों छन्दों के हिसाब से इसमें कुल ११०७ छन्द हैं।

यह ग्रंथ सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाता इसलिए इसका विशेष अध्ययन नहीं हो सका है। जो कुछ भी इसका अध्ययन हो सका है, उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि यह रचना प्रामाणिक नहीं है। सर्वप्रथम डा० दीनदयालु गुप्ता ने इस रचना की विस्तृत और पूर्ण परीक्षा करके यह निर्णय निकाला है—

"कथावस्तु, भाव, भाषा शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूरसागर—सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती।"

साम्प्रदायिक विद्वान् इसके द्वारा पुष्टिमार्गीय दार्शनिक सिद्धान्तों की किंचित् पुष्टि होने के कारण इसे प्रामाणिक मानने का विशेष आग्रह करते हैं, किन्तु उनके प्रतिपादन का कोई विशेष आधार नहीं दिखाई देता। जब हस्तलिखित प्रतियों, जनश्रुतियों अन्तर्लेखों आदि के रूप में इसकी प्राचीनता का संकेत करने वाली कोई भी साक्षी नहीं दिखाई देती, तो भला इसे सूरकृत कैसे माना जा सकता है? विषय की दृष्टि से इसमें कृष्ण की संयोग-लीला, वसन्त, हिंडोला और होली आदि के प्रसंग कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद के समय के लिखे गये हैं।

साहित्य-लहरी

'साहित्य-लहरी' सूरदास का तीसरा प्रमुख ग्रंथ बताया जाता है। इसका विषय 'सूरसागर' से कुछ भिन्न दिखाई देता है। इसके विषय में कोई भी तारतम्य दृष्टिगत नहीं होता। इसमें कृष्ण की बाल-लीला से सम्बन्धित पद भी हैं और नायिका-भेद के रूप में राधा के मान आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है। इसमें संयोगिनी विलासवती स्त्री का भी वर्णन है और वियोगिनी प्रोषितपतिका का भी। स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्रौढ़ा, धीरा, ज्येष्ठा, विदग्धा आदि सभी प्रकार की नायिकाओं का वर्णन इसमें मिलता है। इसके अतिरिक्त दृष्टांत, परिकर, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, व्यतिरेक आदि अनेक अलंकारों का भी उल्लेख दिखाई देता है। दो पदों में महाभारत की कुछ कथा के प्रसंग भी दृष्टिगत होते हैं।

इस ग्रंथ के पद दृष्टकूट कहलाते हैं। इन दृष्टकूटों में यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग के कारण अर्थबोध में कठिनाई आ गई है। इस प्रकार के यमक अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सारंग समकर नीक-नीक सम सारंग सरस बखानै।
सारंग बस भय, भय बस सारंग, विषमै मानै॥"

इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' में नायिका-भेद तथा अलंकार-निर्देश ही मुख्य रूप से है। कुछ बातों को दृष्टकूटों के रूप में भी वर्णन किया गया है। यह सब कुछ पहले से ही प्रचलित था। अलंकारों की परिपाटी हिन्दी में चन्दबरदाई से ही चल पड़ी थी। श्री विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' ने इस भेद के साथ नायिका-भेद का भी प्रारम्भ कर दिया था। विद्यापति की 'पदावली' में दृष्टकूट प्राप्त हो जाते हैं।

कुछ विद्वान् 'साहित्य लहरी' को सूरकृत नहीं मानते। इन विद्वानों में डा० ब्रजेश्वर वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध विद्वान् ने अपने मत की पुष्टि के लिए कई तर्क दिये हैं जिनमें प्रमुख ये हैं—

१. सूरदास विरक्त महात्मा एवं सिद्ध कोटि के ज्ञानी भक्त थे। ऐसे महात्मा और भक्त को अपनी पूर्ण वृद्धावस्था में इस प्रकार के काव्य-साहित्य

दिखाई देता है और न 'भाव प्रकाश' में श्री हरिराय जी ने इसका कोई संकेत दिया है। वेंकटेश्वर प्रेस से जो 'सूरसागर' का संस्करण निकला था उसके साथ ही यह रचना संलग्न मिलती है, किन्तु यह किस हस्तलिखित प्रति के आधार पर छापी गई है इसका कोई पता नहीं चलता। इसका पूरा नाम छपा है—'श्री सूरदास जी रचित सूरसागर सारावली तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र'। किन्तु परीक्षा करने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह न तो 'सूरसागर' का सार ही है और न उसका सूचीपत्र। इसमें और 'सूरसागर' में अनेक विवरणगत विभिन्नतायें विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा, शैली और विचार धारा में भी 'सूरसागर' से पर्याप्त भिन्नता है। काव्य की दृष्टि से भी इस रचना का कोई मूल्य नहीं दिखाई देता। प्रारम्भ में तो 'सूरसागर' के प्रारम्भ का एक गेय पद है ही, शेष सारी रचना 'सार' 'सरसी' दो छन्दों में हुई है। इन दोनों छन्दों के हिसाब से इसमें कुल ११०७ छन्द हैं।

यह ग्रंथ सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाता इसलिए इसका विशेष अध्ययन नहीं हो सका है। जो कुछ भी इसका अध्ययन हो सका है, उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि यह रचना प्रामाणिक नहीं है। सर्वप्रथम डा॰ दीनदयालु गुप्ता ने इस रचना की विस्तृत और पूर्ण परीक्षा करके यह निर्णय निकाला है—

"कथावस्तु, भाव, भाषा शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूरसागर—सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती।"

साम्प्रदायिक विद्वान् इसके द्वारा पुष्टिमार्गीय दार्शनिक सिद्धान्तों की यत्किंचित् पुष्टि होने के कारण इसे प्रामाणिक मानने का विशेष आग्रह करते हैं, किन्तु उनके प्रतिपादन का कोई विशेष आधार नहीं दिखाई देता। जब हस्तलिखित प्रतियों, जनश्रुतियों अनुलेखों आदि के रूप में इसकी प्राचीनता का संकेत करने वाली कोई भी साक्षी नहीं दिखाई देती, तो भला इसे सूरकृत कैसे माना जा सकता है? विषय की दृष्टि से इसमें कृष्ण की संयोग-लीला, बसन्त, हिंडोला और होली आदि के प्रसंग कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद के समय के लिखे गये हैं।

साहित्य-लहरी

'साहित्य-लहरी' सूरदास का तीसरा प्रमुख ग्रंथ बताया जाता है। इसका विषय 'सूरसागर' से कुछ भिन्न दिखाई देता है। इसके विषय में कोई भी तारतम्य दृष्टिगत नहीं होता। इसमें कृष्ण की बाल-लीला से सम्बन्धित पद भी हैं और नायिका-भेद के रूप में राधा के मान आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है। इसमें संयोगिनी विलासवती स्त्री का भी वर्णन है और वियोगिनी प्रोषितपतिका का भी। स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्रौढ़ा, धीरा, ज्येष्ठा, विदग्धा आदि सभी प्रकार की नायिकाओं का वर्णन इसमें मिलता है। इसके अतिरिक्त दृष्टांत, परिकर, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, व्यतिरेक आदि अनेक अलंकारों का भी उल्लेख दिखाई देता है। दो पदों में महाभारत की कुछ कथा के प्रसंग भी दृष्टिगत होते हैं।

इस ग्रंथ के पद दृष्टकूट कहलाते हैं। इन दृष्टकूटों में यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग के कारण अर्थबोध में कठिनाई आ गई है। इस प्रकार के यमक अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सारंग समकर नीक-नीक सम सारंग सरस बखानै।
सारंग बस भय, भय बस सारंग, विषमै मानै॥"

इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' में नायिका-भेद तथा अलंकार-निर्देश ही मुख्य रूप से है। गुह्य बातों को दृष्टकूटों के रूप में भी वर्णन किया गया है। यह सब कुछ पहले से ही प्रचलित था। अलंकारों की परिपाटी हिन्दी में चन्द्रबरदाई से ही चल पड़ी थी। श्री विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' ने इस भेद के साथ नायिका-भेद का भी प्रारम्भ कर दिया था। विद्यापति की 'पदावली' में दृष्टकूट प्राप्त हो जाते हैं।

कुछ विद्वान् 'साहित्य लहरी' को सूरकृत नहीं मानते। इन विद्वानों में डा० ब्रजेश्वर वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध विद्वान् ने अपने मत की पुष्टि के लिए कई तर्क दिये हैं जिनमें प्रमुख ये हैं—

१. सूरदास विरक्त महात्मा एवं सिद्ध कोटि के ज्ञानी भक्त थे। ऐसे महात्मा और भक्त की अपनी पूर्ण वृद्धावस्था में इस प्रकार के काव्य-साहित्य

के रचने की क्या आवश्यकता थी ?

२. जब इस ग्रंथ में राधा के नख-शिख का वर्णन नहीं है तो इसकी रचना दृष्टिकूट शैली मे करने की क्या आवश्यकता थी ?

३. जब सूरदास जी ने 'सूरसागर' जैसे वृहत ग्रंथ में उसका कोई रचना-काल नही दिया तो 'साहित्य-लहरी' जैसे छोटे से असफल ग्रंथ में रचना-काल कैसे दे दिया ?

४. इस ग्रंथ का कोई वर्णन 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में नहीं मिलता।

हमारी दृष्टि में डा० वर्मा का मत पूर्णतया मान्य नहीं कहा जा सकता। इनके तर्कों का उत्तर यह है कि 'सूरसागर' सूरदास की स्वतन्त्र रचना नहीं है। उसे 'श्रीमद्भागवत' की कथाओं का अनुवाद कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस रचना के अनन्तर ही इसके तत्व रूप से सूर ने 'सूर-सारावली' की सैद्धान्तिक रचना की थी। इसमें कवि ने स्पष्ट रूप से अपनी ६७ वर्ष की आयु का उल्लेख किया है। दृष्टकूट शैली की आवश्यकता के प्रश्न का उत्तर यह है कि इस ग्रंथ के पदों में कृष्ण-लीलायें हैं जिनका गूढ़ रखना आवश्यक था। इनमे प्राप्त नायिकाओं के उल्लेख में भी कुछ गूढ़ता का लाना आवश्यक था। इसलिए नखशिख वर्णन के न होते हुए भी दृष्टकूट शैली की नितान्त आवश्यकता थी। 'वार्ता' में यदि इस ग्रंथ का नाम नहीं आया तो भी हम इसे अप्रामाणिक नही कह सकते। ज्ञात होना चाहिये कि 'वार्ता' कथा-प्रसंग के रूप में है, इसकी रचना ऐतिहासिक शैली में नही है। अतः डा० वर्मा के तर्कों के आधार पर हम एक दम इसे अप्रामाणिक नहीं ठहरा सकते।

इसके विपरीत 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' में दृष्टकूट शैली, वर्ण्य-विषय तथा भाषा आदि की दृष्टि से भी समानता दृष्टिगत होती है। समानता के ये उदाहरण दर्शनीय हैं—

"गृह नक्षत्र अर वेद अरध करि को बरजे हमें खात।"

× × × ×

"जबते सुन्दर बदन निहारो।
ता दिन ते मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकारा।"
"पिय बिनु नागिनी कारी रात।
कबहुँक जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥" (सूरसागर)
अब इन तीनो उदाहरणो की समानता क्रम से 'साहित्य-लहरी' के निम्न उदाहरणों में देखी जा सकती है—
"ग्रह नक्षत्र ग्रस वेद अरध करि क्षात हरष मन बाढ़ौ।"
"जबते हौं हरि रूप निहारो।
तबते कहा कहौं री सजनी, लागत जग अधियारो।"
"पिय बिनु बहन बैरिन बाय।
मदन बान कमान लायौ करधि कोप चिढ़ाय॥"

उपर्युक्त पदो का साम्य एवं भाव-साम्य स्पष्ट इस बात को सिद्ध करता है कि 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' का लेखक एक ही है। निश्चित है कि 'सूरसागर' सूरदास जी की रचना है। इसलिए 'साहित्य-लहरी' को भी सूरकृत ही मानना चाहिए।

अन्य ग्रन्थ—

उपर्युक्त तीन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ और रचनाएँ भी सूरदास-कृत कही जाती हैं। इन रचनाओं में कुछ तो जैसे 'नल दमयन्ती' रचना सूफी भक्त सूरदास की है। इसी प्रकार 'रामजन्म' और 'एकादशी माहात्म्य' दो रचनायें किसी और सूरदास नामक कवि की है। 'हरिवंश टीका' सम्भवतः किसी दक्षिण के सूरदास द्वारा रचित है। वास्तव में अन्य ग्रन्थों की शैली पर विचार करने पर सभी विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि ये सारे ग्रंथ एक ही व्यक्ति के लिखे हुए नहीं हैं। इनमें कई प्रकार की शैली इस बात का निश्चित प्रमाण है कि इतमें से कई रचनाएँ तो निश्चित रूप से सूरकृत नहीं कही जा सकतीं। इन रचनाओं में सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम तीन नाम भी भिन्न-भिन्न कवियों का परिचय देते हैं। डा० जनार्दन मिश्र ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ये तीनों सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम—भिन्न-भिन्न कवि हुए हैं।

इनमे से कुछ रचनायें 'सूरसागर' का अंश मात्र कही जा सकती हैं। 'भागवत भाषा' 'दशम स्कन्ध टीका, नाम से जो ग्रंथ बताये जाते हैं वे 'सूरसागर' के ही अंश हैं। 'सूरदास जी के पद' नामक ग्रन्थ में 'सूरसागर' के ही चुने हुए पद हैं। 'नाग-लीला' कालियदमन वाले प्रसंग की कथा 'सूरसागर' का ही एक अंश है। इसी प्रकार 'ब्याहलो' 'प्राण प्यारी' सूर पच्चीसी' 'सूर सागर सार' 'गोवर्धन-लीला' सभी 'सूर सागर' के ही अंश है। 'सूर शतक' कदाचित 'साहित्य-लहरी' का ही कोई रूप कहा जा सकता है।

वास्तव में बात यह है कि 'सूरदास' की एकमात्र प्रामाणिक रचना 'सूरसागर' ही है जिसके आधार पर वे आज हिन्दी के कवियों में इतने ऊँचे स्थान पर विराजमान हैं। इस ग्रंथ के अतिरिक्त शेष सभी रचनाओं को कुछ विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते। अनुमान तो यह भी किया जा सकता है कि 'सूरसागर' में भी अनेक पद अन्य कवियों द्वारा रचित होंगे। इसमें कुछ पद मदनमोहन और परमानन्ददास के भी बतलाये जा सकते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों से आरम्भ होने वाला पद सम्भवतः हरिदासी सम्प्रदाय के श्री व्यास जी की रचना है जो 'सूर सागर' में सम्मिलित कर दी गई है—

"सरद सुहाई आई राति, दहदिसि फूलि रही बन जाति।"......आदि

इसी प्रकार के और भी कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके विषय में कहा जा सकता है कि ये सूरकृत नहीं हैं। वास्तव में 'सूरसागर' की अधिक हस्तलिखित प्रतियों को एकत्रित करके उनकी वंश-परम्परा, उनका परस्पर सम्बन्ध, उनमें उपलब्ध प्राचीनतम और उसकी विविध शाखाओं की उत्तराधिकारी प्रतियों आदि का वैज्ञानिक प्रणाली पर निर्णय करके सम्यक् रूप से संपादन करने की आवश्यकता आज भी बनी है और तभी इस समस्या का अधिकारी शब्दों में समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि सूर की कौन-कौन सी रचनाएँ हैं।

प्रश्न ५—क्या 'सूरसागर' भागवत का अनुवाद कहा जा सकता है?

प्रमाण सहित अपने मत की पुष्टि कीजिये तथा सूर की मौलिकता पर प्रकाश डालिये।

'सूरसागर' के विषय में सर्वप्रमुख भ्रान्ति यह चल रही है कि यह भागवत का अनुवाद है। इसे इस प्रकार मानने का कारण इसकी बाह्य रूप रचना है। जो विद्वान् इसे भागवत का अनुवाद कहते हैं वे अपने मत की पुष्टि इस आधार पर करते हैं कि 'सूरसागर' में भी 'भागवत' की भांति १२ स्कन्ध ही हैं। भिन्न-भिन्न स्कन्धों की कथाओं में भी काफी समानता दृष्टिगत होती है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भी कहा गया है कि सूरदास ने 'सूरसागर' की कथावस्तु 'श्रीमद्भागवत' से ली है। यही नहीं, कवि ने स्वयं भी कई स्थानों पर भागवत के अनुसार कथा-वर्णन करने की बात कही है। उन्होंने स्वयं कहा है—

> "श्रीमुख चारि श्लोक दिये, ब्रह्मा को समुझाई।
> ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाई॥
> व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादस स्कन्ध बनाई।
> सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाई॥
> जैसे शुक को व्यास पढ़ायो।
> सूरदास तैसे कहि गयो॥"
>
> × × ×
>
> "पुनि भयो नारायण अवतार।
> सूर कह्यो भागवत अनुसार॥"

इस प्रकार एक तो सूरदास ने स्वयं कहा है कि वे 'भागवत' के अनुसार ही पद रच रहे हैं। दूसरे, स्कन्धों की समानता दिखाई देती है। वेंकटेश्वर प्रेस वाला 'सूरसागर' का संस्करण, जो विशेष रूप से प्रचलित था, भागवत की भांति १२ स्कन्धों में ही विभक्त था। नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण भी इसी प्रकार बारह स्कन्धों में विभाजित है, किन्तु सूरदास जी के स्वयं कहने पर तथा स्कन्धों की इस प्रकार की समानता के होते हुए भी 'सूरसागर'

को भागवत का अनुवाद नहीं माना जा सकता।

कथा-वर्णन

यदि 'सूरसागर' और 'भागवत' का तुलनात्मक रूप में अध्ययन किया जाय तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' 'भागवत' का अनुवाद नहीं है। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों में उसका एक ऐसा रूप भी प्राप्त होता है जिसमें श्रीकृष्ण की लीला ही, जो भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित है, मुख्य रूप से है। विनय आदि प्रसंग गौण रूप से हैं। इसके अतिरिक्त यदि शेष स्कन्धों की ओर दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि शेष एकादश स्कन्धों की कथा इनमें नहीं है। नवलकिशोर प्रेस से छपा हुआ 'सूरसागर' का संस्करण यद्यपि अब उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह इसी प्रकार का था। इस प्रकार 'सूरसागर' के स्कन्धों मे पद-संख्या देखने से प्रतीत होता है कि उसमें दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध की ही प्रधानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दशम स्कन्ध पूर्वार्ध की कथा तो 'सूरसागर' और 'भागवत' दोनों में विस्तार के साथ वर्णित है, किन्तु 'भागवत' मे तो अन्य स्कन्धों में कथायें विस्तारपूर्वक हैं वर्णित जबकि 'सूरसागर' मे इन कथाओं को थोड़े से ही पदों में समाप्त कर दिया गया है। इस असमानता को देखकर 'सूरसागर' को 'भागवत' का अनुवाद कैसे कहा जा सकता है ? 'सूरसागर' के बारहवें स्कन्ध में पदों के क्रम के अवलोकन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि दशम स्कन्ध पूर्वार्ध और श्रीकृष्ण की ब्रजलीला-संबंधी दशम उत्तरार्ध के अंशों को छोड़ कर अन्य स्कन्धो की रचना मे सूरदास की कोई रुचि नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने इनकी रचना केवल पूर्ति या भरती के लिए ही की है।

पद-संख्या

नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण मे दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे ४१६० पद हैं और उत्तरार्ध मे केवल २४६ पद है। कुल मिलाकर ४३०६ पद हुए। 'सूरसागर' में समूची पद-संख्या ४६३६ हैं। इस प्रकार दशम स्कन्ध के

अतिरिक्त कुल ६२७ पद और रहे। इनमें २२३ पद तो विनय के ही हैं। शेष ४०४ पदों में से भी यदि हम नवम स्कन्ध में दिये हुए रामकथा से सम्बंधित १६८ पद निकाल लें तो केवल २३६ पद ही शेष रहे। इन शेष पदों में ही दस स्कन्धों की कथा कही है। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इतने पदों में तो शेष कथा का सार भी यदि कोई देना चाहे तो नही दे सकता। इसके अतिरिक्त 'सूरसागर' दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे भी भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध से बहुत अन्तर है। 'सूरसागर' का यह अंश भागवत के इस भाग से आकार मे बहुत बड़ा है।

'श्रीमद्भागवत' का मुख्य विषय भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन है। इस ग्रंथ में भागवतकार ने भगवान की अपरिमित शक्ति दिखाने का प्रयास किया है। दशम स्कन्ध का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार इस तथ्य का स्पष्ट परिचायक है कि भागवतकार का कृष्णावतार पर विशेष मोह है। 'भागवत' में विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण को ही प्रमुख अवतार माना है। अन्य अवतारों की कथा पर इतना बल भागवत्कार ने नही दिया है, किन्तु इनकी कथा भी विस्तार से वर्णित है। इसके विपरीत 'सूरसागर' में यद्यपि अवतारों के उपस्थित करने का वही क्रम है, तथापि राम और कृष्ण के अवतारों के अतिरिक्त और अवतारो का तो सूर ने नाममात्र ही उल्लेख किया है। रामावतार की कथा 'सूरसागर' मे भागवत की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णित है। दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध की कथा भागवत में तो ४१ अध्यायों में है, किन्तु 'सूरसागर' में इसके केवल १३८ पद हैं। इस प्रकार निश्चित है कि 'सूरसागर' भागवत' से विस्तार मे बहुत-कुछ भिन्न है। यदि यह इसका अनुवाद होता तो इतनी भिन्नता नही हो सकती थी।

मौलिकता

[illegible] मे निःस्सन्देह मौलिकता होती है।
[illegible] यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने कई
[illegible]। भागवत में ऐसे अनेक मनोहारी स्थलों

का प्रभाव है जो 'सूरसागर' में दृष्टिगत होते हैं। 'सूरसागर' का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध है। इसमें कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा जाने और वहाँ से उद्धव को ब्रज भेजने तथा गोपियों का समाचार जानने तक की कथा है, किन्तु जैसा हमने पहले कहा कि 'सूरसागर' का यह अंश 'भागवत' के इसी अंश से बहुत बड़ा है। दूसरे, सूर के कृष्ण के चित्रण से भागवत्कार के कृष्ण के चित्रण से अन्तर है। भागवत के कृष्ण शक्तिशाली हैं। स्थान-स्थान पर उनकी अलौकिक लीलाएँ ही अधिक प्रदर्शित हैं। लौकिक लीलाएँ जितनी 'सूरसागर' में वर्णित हैं उतनी भागवत में नहीं।

नवीन प्रसंगों की उम्दावना

'सूरसागर' में नवीन प्रसंगों की उद्भावना में सबसे अधिक संख्या राधा और गोपी सम्बन्धी प्रसगों की है। भागवत में तो राधा का नामोल्लेख तक प्राप्त नहीं होता, किन्तु 'सूरसागर' में 'राधा' सम्बन्धी अनेक प्रसग हैं। बालिका राधा के बालक कृष्ण के साथ खेलने के प्रसग तथा भ्रमरगीत की व्यग्य भरी उक्तियाँ 'भागवत' में देखने को भी न मिलेंगी। भागवत में उद्धव की कथा अवश्य है, किन्तु उनके गोकुल में पहुँचने पर गोपियाँ उन्हे चिढ़ाती दिखाई नहीं देती। वे तो उद्धव के वाक्यों को चुपचाप सुन लेती हैं। उसके द्वारा कृष्ण का सन्देश पाकर उनकी विरह-व्यथा शान्त हो जाती है। 'सूरसागर' में गोपियों के कृष्ण के प्रति जो उलाहने दृष्टिगत होते हैं, वे भागवत मे दिखाई नही देते। निर्गुण और सगुण का झमेला भी, जो 'भ्रमर गीत' का मुख्य उद्देश्य है, 'सूरसागर' की भाँति भागवत मे दिखाई नहीं देता। 'सूरसागर' में जहाँ राधाकृष्ण लीला को ही प्रधानता दी गई है वहाँ भागवत मे सर्ग-प्रतिसर्ग विषयों का वर्णन करके भागवत्कार ने भक्ति को मूर्द्धन्य बनाने का प्रयास किया है। 'सूरसागर' के कुछ स्कन्धों में विशेष रूप से पहले और दूसरे में सूरदास ने जो माया, भक्ति, गुरुमहिमा आदि प्रसग दिये हैं वे नितान्त मौलिक हैं। भागवत में इनका वर्णन नही है। 'सूरसागर' में मंगलाचरण अथवा प्रस्तावना का भी कोई स्थान नहीं रखा गया है। 'सूरसागर' में तो वे पद भी हैं जो

सूर ने आचार्य महाप्रभु से दीक्षा लेने से पूर्व रचे थे। 'सूरसागर' में अनेक स्थानों पर एक ही कथा की पुनरुक्ति भी मिलेगी जो 'भागवत' में नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि 'सूरसागर' भागवत का अनुवाद नहीं है। वह एक स्वतंत्र रचना है। भागवत का तो उसमें केवल इतना ही आधार लिया गया है जितना कृष्ण की ब्रजलीला की रूप रेखाओं के निर्माण के लिये आवश्यक था। उसमें अनेक नवीन प्रसंगो की उद्‌भावना है। उसकी प्रकृति भावना समन्वित काव्य की है, किसी पुराण-रचना की नहीं।। उसमें तो कितने ही भागवत के प्रसंगो, विवरणों तथा सिद्धांतों को छोड दिया है और कितने ही नवीन प्रसंगों की अवतारणा की है। अतः निश्चित है कि भागवत का आधार लेते हुए भी 'सूरसागर' सूर की एक मौलिक कृति है।

प्रश्न ६—'सूरसागर' के पदों को आप किन प्रमुख शीर्षकों में वर्गीकृत कर सकते हैं ? काव्य की दृष्टि से किस शीर्षक के पद सर्वश्रेष्ठ हैं और क्यों ?

महाकवि सूरदास का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'सूरसागर' गेयात्मक पदो से सम्पन्न है। सूरदास भक्त और कवि होने के साथ-साथ संगीताचार्य भी थे। वे स्वयं एक अच्छे गायक थे। सूरदास के उस काल मे जिस समय उन्होने अपने पद रचे थे, समूचे देश का वातावरण संगीतमय था। तत्कालीन मुगल सम्राट् के दरबार मे संगीत के राजा तानसेन और बैजुबावरा विद्यमान थे। जीवन का प्रत्येक कार्य-व्यवहार संगीत से ओतप्रोत था। जिस अष्टछाप के कवियों मे सूरदास अग्रगण्य थे। उसमें भी ऐसे-ऐसे गायक विद्यमान थे जो तानसेन से टक्कर ले सकते थे। सूरसागर के अधिकांश अंश की रचना सूर ने श्रीनाथ जी के मन्दिर में विविध समय मे कीर्तन के निमित्त ही की थी। कहने का तात्पर्य यह है कि सूरदास ने तत्कालीन वातावरण की स्थिति से प्रभावित होकर काव्य रचना पदो में ही की थी। वास्तव मे उस समय पद-रचना का ही अधिक प्रचार था। विभिन्न प्रकार के राग और रागनियां, नाना लय और मात्रा तथा ताल के साथ गाने में ही उस समय के गायकों की विशेषता समझी जाती थी। अतः सूर ने भी

अपनी रचना गेयात्मक पदों में ही की।

वर्गीकरण

सूरसागर कई हजार पदों की रचना है। इसमें नाना प्रकार के पद प्राप्त होते हैं। विभिन्न राग और रागनियाँ उसमे विद्यमान हैं, किन्तु राग-रागनियों के प्रकार के आधार पर 'सूरसागर' के पदों का वर्गीकरण न तो सुगम ही है और न कुछ अधिक उपयुक्त ही। विषय की दृष्टि से ही इसके पदो को वर्गीकृत करना अधिक उपयोगी एवं तर्क संगत जान पड़ता है। 'सूरसागर' के समस्त पदों पर विषय की दृष्टि से विचार करने पर इनके पदों को निम्नलिखित सात शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. विनय सम्बन्धी पद
२. चौबीस अवतारों से सम्बन्धित पद।
३. रामलीला सम्बन्धी पद।
४. कृष्ण लीला सम्बन्धी पद।
५. भ्रमर-गीत प्रसंग तथा द्वारिका लीला सम्बन्धी-पद।
६. दृष्टिकूट।
७. विविध।

विनय-सम्बन्धी-पद

विनय-सम्बन्धी अधिकांश पद वे हैं जिनकी रचना सूरदास ने श्री वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में पूर्व की थी। सूर के विनय-सम्बन्धी पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में संग्रहीत हैं। सम्भवतः तत्कालीन आदर्श हीन तथा उद्देश्य हीन जीवन की निःसारता का अनुभव सूर को यौवन के पूर्व ही हो गया था। सूरदास जी किन परिस्थितियों में विरक्त हुए, इतना तो हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते किन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि वे लगभग १०-१२ वर्ष की आयु में एक सम्भ्रान्त सन्यासी के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। उनके अनेक सेवक थे और वे गऊघाट पर भगवद् भजन में तल्लीन रहा करते थे। वे अपनी इस अवस्था से भी सन्तुष्ट नहीं थे। वे अब भी संसार की विरा

वासना के सर्वव्यापी प्रभाव के आतंक से पूर्णतया मुक्त नहीं हुए थे। वे दयानिधान तथा पतिततारन हरि से उद्धार करने की विनय किया करते थे। 'सूरसागर' के इन विनय-सम्बन्धी पदो मे भक्ति की सातो भूमिकाओं—दीनता, मानमर्षता, भर्त्सना, भयदर्शन, आश्वासन, मनोराग, और विचारण से सम्बन्धित पद मिल जाते हैं। 'सूरदास' के अनेक पदो मे सूर के मन का दैन्य-भाव और कातरता देखी जा सकती है। सासारिक विषयो से विमुख होने में सूरदास को जब सफलता नही मिलती है तो उनके मन में ऐसे-ऐसे भाव उठते हैं—

> "मेरो मन मतिहीन गुसाईं
> सब सुख-निधि पद कमल छांड़ि, श्रम करत स्वान की नाईं।
> फिरत वृथा भाजन अवलोकत, सूनें सदन अजान।
> तिहिं लालच कबहूं कैसे हूं तृप्ति न पावत प्रान॥
> कौर कौर कारन कुबुद्धि जड़, किते सहत अपमान।
> जहँ जहँ जात तहिं तहिं त्रासत, असम लकुट पद त्रान॥
> तुम सर्वज्ञ, सबै विधि पूरन, अखिल भुवन निज नाथ।
> तिन्हें छांडि, यह सूर महा सठ, भ्रमति भ्रमनि के साथ॥"

सांसारिक विषयो से विमुख रहने की असमर्थता की अवस्था मे सूर को भगवान् की असीम कृपा के अतिरिक्त और कोई आश्रय नही दिखाई देता। सूर के पास अपनी तो कुछ पूंजी है ही नहीं। जो कुछ है भी तो वह पापो का ही ढेर है। भगवान् पतितपावन हैं। उन्होने अनेक पापियो का उद्धार किया है। वे ही सूर का भी उद्धार कर सकते हैं। अत. बार-बार वे भगवद् कृपा की ही याचना करते हैं—

> "कृपा अब कीजिये बलि जाऊँ।
> नाहिन मेरें और कोउ, बलि, चरन-कमल बिन ठाउँ॥
> हौं असौच, अकित अपराधी, सनमुख होत लजाउँ।
> तुम कृपाल, करुनानिधि केसव, अधम उधारन नाऊँ॥
> काकै द्वार जाइ होउँ ठाढ़ौ, देखत काहि सुहाऊँ।

असरन सरन नाम तुम्हारौ, हौं कामी कुटिल निभाऊँ ॥
कलुषी अरु मन मलिन बहुत मैं, सेंत सेंत न बिकाऊँ ।
सूर पतित पावन पद-अम्बुज, सो क्यों परिहरि जाऊँ ॥"

सूरदास के इस प्रकार के विनय के पद कला की दृष्टि से तो कुछ अधिक उत्कृष्ट नही कहे जा सकते, किन्तु दास्य भक्ति को व्यक्त करने की दृष्टि से इनका महत्व बहुत अधिक है ।

चौबीस अवतारों से सम्बन्धित पद

महात्मा सूरदास के इस प्रकार के पद 'सूरसाग' मे कथाओं के रूप में ही प्राप्त होते हैं । इन पदो मे अधिकाश कथाए भागवत के अनुकरण पर ही हैं। इनमे सृष्टि की उत्पत्ति, नृसिंहावतार, गजेन्द्रमोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र-मंथन, वामनावतार मत्स्यावतार आदि चौबीस अवतारो का वर्णन है । सप्तर्षि व मनु की उत्पत्ति तथा परीक्षत और जनमेजय आदि की कथाओं के अनेक वृतान्त मिलते हैं । यत्र-तत्र भक्ति-महिमा, नाम-महिमा, दुष्ट-निन्दा तथा भारती आदि के प्रसग भी इनमे आ जाते है, किन्तु अधिकाँश वर्णन मे भागवत के आधार पर परम्परा का पालन-मात्र किया हुआ जान पडता है । इनके वर्णनो में सूरदास जी का हृदय लगा हुआ नही दिखाई देता । इसलिए कला की दृष्टि से ये पद अत्यन्त साधारण कोटि के हैं ।

रामलीला सम्बन्धी-पद

'सूरसागर' मे वैसे तो चौबीस अवतारो से सम्बन्धित पद हैं, किन्तु १७५ पद रामलीला से सम्बन्ध रखने वाले हैं । चौबीस अवतारों में दो ही अवतारों— राम और कृष्ण सम्बन्धी पदों मे सूर ने अपनी अधिक रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने सब अवतारों मे इन दो ही अवतारो की कथा को प्रमुखता दी है। कृष्ण की कथा तो उन्होने सर्वत्र गाई ही है, साथ ही राम की कथा का भी अच्छा वर्णन किया है । भागवत मे रामावतार सम्बन्धी यह कथा इतने विस्तार से वर्णित नहीं है जितने विस्तार से 'सूरसागर' मे है । कृष्ण से सम्बन्धित पदों का तो कहना ही क्या, रामावतार से सम्बन्धित पदों मे भी सूर का हृदय रमा है ।

अतः रामावतार सम्बन्धी पद बहुत सरल एवं सुन्दर बन पड़े हैं। कला की दृष्टि से इनके ये पद वास्तव में पर्याप्त सुन्दर एवं सरस हैं।

कृष्ण लीला-सम्बन्धी पद

'सूरसागर' के पदों का यह वर्ग इस ग्रंथ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्ग है। सूर का हृदय जितना कृष्ण लीलाओं में रमा है, उतना किसी अवतार से सम्बन्धित कथा में नहीं। सूर के इष्टदेव कृष्ण ही थे।

इस वर्ग में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा जाने के समय तक के उनके पद संग्रहित हैं। उनका मथुरा में जन्म, गोकुल में लाया जाना, पूतना, शकटासुर और तृणावृत आदि राक्षसों का वध करना तथा वत्स, बक अघासुर और कालिय-दमन आदि प्रसंग इस वर्ग के अन्तर्गत वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त उनकी राधा से प्रीति, माखन-चोरी, रासलीला आदि के प्रसंग भी अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की बालसुलभ चेष्टायें तथा मनोभाव इन पदों में देखते ही बनते हैं शृङ्गार रस के संयोग पक्ष के वर्णन भी अत्यन्त हृदय-स्पर्शी हैं। इस वर्ग को पढ़ने से सूर की अद्भुत सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का पता चल जाता है। इस वर्ग में सूर के बाल-वर्णन सम्बन्धी पद अवश्य ही अपनी सानी नहीं रखते यथा—

"कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।"

× × × ×

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किति बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ?"

× × × ×

"मैया हौं नहीं दधि खायो।"
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं बरबस मुख लपटायो ॥"

× × × ×

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायो ॥"

उपर्युक्त पंक्तियों में बालक कृष्ण की नाना भावनायें, मनोवृत्तियाँ, बाल-सुलभ चपलता तथा साथ ही सूर का सूक्ष्म निरीक्षण दर्शनीय है। सूर बाल-मनोविज्ञान के पूर्ण पंडित थे। उनका-सा बाल-वर्णन हिंदी में तो क्या, समस्त विश्व के साहित्य में भी प्राप्त नहीं होता।

भ्रमर-गीत प्रसंग तथा द्वारिका-लीला-सम्बन्धी पद

इस वर्ग में कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् उनकी गोकुल की बहुत लीलायें वर्णित हैं। प्रारम्भ में कंस-वध, उग्रसेन का सिंहासनारूढ़ होना, वसुदेव-देवकी उद्धार, कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि कथायें आ गई हैं। जरासिंध युद्ध, रुक्मिणी-हरण, शिशुपाल-वध, शाल्य-वध, दन्तवक्र-वध, सुदामा-दरिद्रता-हरण, सुभद्रा अर्जुन विवाह तथा भृगु परीक्षा आदि प्रसंग भी इस वर्ग के पदों में प्राप्त हो जाते हैं। इनमें से कुछ प्रसंग कथा-रूप से वर्णित हैं, किन्तु इस वर्ग में भ्रमरगीत-सम्बन्धी प्रसंग अपना विशेष महत्व रखता है। इस प्रसंग के अन्तर्गत सूर ने जो विप्रलम्भ शृंगार रस का चित्रण किया, वह हिन्दी में अपनी समानता नहीं रखता। कृष्ण उद्धव जी को गोपियों के पास ज्ञान का उपदेश देने भेज देते हैं। गोपियाँ उनके वचनों से प्रभावित नहीं होतीं। इसके विपरीत उनके तर्क पूर्ण उत्तरों तथा वाग्विदग्धता से उद्धव पराजित हो जाते हैं। काव्य की दृष्टि से इस वर्ग का यह प्रसंग बहुत ही उच्च है। इनमें गोपियों के प्रेम की मार्मिक व्यंजना के साथ-साथ कला का सुन्दर सामञ्जस्य दिखाई देता है। क्या भाषा, क्या अलंकार तथा क्या भाव सभी दृष्टियों से यह प्रसंग बहुत ही सुन्दर, स्वभाविक एवं मन मोहक है। गोपियों के तर्कपूर्ण उत्तर तथा विपरीत दृश्यों को कोसना निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शनीय है—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस !
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराध ईस।"

× × × ×

"उर में माखन-चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े॥"

"लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटत।"

× × × ×

"मधुबन तुम कत रहत हरे।
बिरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे।"

कहाँ तक कहें, 'सूरसागर' का यह प्रसंग अनेक ऐसे ही सुन्दर उदाहरणों से भरा पड़ा है। भ्रमरगीत के मुख्य उद्देश्य-निर्गुण का खंडन तथा सगुण के मंडन-में भी सूर पूर्णतया सफल हुए हैं।

गोपियों की अटूट प्रेम तथा भक्ति तर्कज्ञान के पोषक ऊधो पर भी अपना प्रभाव डाल देती है। सूर की गोपियों की यह विशेषता अतुलनीय है। गोपियों की ही नहीं सूर के इन पदों की इस विशेषता ने इनके काव्य-सम्बन्धी सौन्दर्य को भी अतुलनीय बना दिया है।

दृष्टिकूट

दृष्टिकूटों की रचना की परम्परा वेद, उपनिषद् और महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथों के समय से ही चली आ रही है। सूर ने भी सभवतः इसी परम्परा में दृष्टिकूटों की रचना की होगी। इसके अतिरिक्त सूर के द्वारा दृष्टिकूटों की रचना का एक कारण और भी माना जाता है। सूरदास भक्त-कवि थे। वे राधा के नखशिख आदि का वर्णन गोपनीय ढग से करना चाहते थे। अतः उन्होंने ऐसे पदों की रचना की जिससे साधारण समाज उनका अर्थ ही न लगा सके। संभवतः इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर सूर ने दृष्टि को छलने वाले इन दृष्टिकूटों की रचना की होगी। राधा का ऐसा ही नखशिख वर्णन इस दृष्टि-कूट में दृष्टव्य है—

'अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप-पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृगमद काग।
खजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥"

उपर्युक्त पद एक ऐसा ही दृष्टिकूट है जिसका अर्थ साधारण जनों की पहुँच से बाहर की वस्तु है।

'सूरसागर' के अतिरिक्त कुछ दृष्टिकूट पद 'साहित्य-लहरी' में भी दृष्टिगत होते हैं, किन्तु इनका महत्व 'सूरसागर' दृष्टिकूटों की भांति नहीं माना जा सकता। काव्य-कला की दृष्टि से इन दृष्टिकूट पदों का कोई विशेष महत्व नहीं है।

विविध

उपर्युक्त प्रकार के पदों के अतिरिक्त कुछ ऐसे पद भी 'सूरसागर' में पाये जाते हैं जो किसी भाव-विशेष, सिद्धान्त-विशेष अथवा किसी उक्ति विशेष को व्यक्त करने वाले हैं। इन पदों को 'विविध' शीर्षक के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। पद ईश्वर, सृष्टि, जीव, गुरु-महिमा सज्जन-प्रशंसा, दुष्ट-निंदा, माया आदि से संबंध रखते हैं। इन पदों में सूरदास की निजी अभिव्यक्ति है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'माया को त्रिगुणात्मक जानो।'

× × × ×

'अलख निरंजन निर्विकार अच्युत अविनाशी।'

× × × ×

'आपुन को आपुन ही में पायो।' आदि।

काव्य-कला की दृष्टि से इन पदों का भी कोई विशेष महत्व नहीं है।

उपर्युक्त समस्त पदों में काव्य की दृष्टि से दो ही प्रसंग कृष्ण का बाल-वर्णन तथा भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत वियोग विरह—अधिक महत्व-पूर्ण हैं। काव्य के दोनों पक्षों अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से 'सूर-सागर' के समस्त पदों में ये ही दो प्रकार के पद सर्वश्रेष्ठ हैं। इसका कारण यह है कि भावपक्ष और कलापक्ष का जितना सुन्दर सामंजस्य इन दो प्रकार के पदों में प्राप्त हो जाता है उतना अन्य प्रकार के पदों में नहीं। यद्यपि विनय के पदों में भी काव्यकला के दर्शन हो जाते हैं तथापि जो काव्यात्मकता वात्सल्य

और शृंगार रस के चित्रणों में भी, वात्सल्य रस के वर्णन में है वह अन्यत्र कहाँ। वात्सल्य और शृंगार रस के चित्रणों में भी वात्सल्य चित्रण ही कुछ अधिक काव्यमय प्रतीत होते हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'वे वात्सल्य का कोना-कोना झाँक आये हैं।' कृष्ण का बाल-वर्णन पढ़ कर लोग सूर को अन्धा मानने में भी सन्देह करने लगते हैं। ऐसा बाल-वर्णन हिन्दी में तो क्या समस्त विश्व के साहित्य में अप्राप्य है। अत कृष्णलीला-सबधी पदों को ही सर्वश्रेष्ठ मानना उपयुक्त प्रतीत होता है। वैसे शृंगार रस के वर्णन में भी वे हिन्दी में अपनी तुलना नहीं रखते।

प्रश्न ७--"सूरसागर' के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य पर अपने समय के समाज की स्थितियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। विश्व की किसी भी भाषा का साहित्य देख लीजिये, वह अपने समय के समाज के प्रभाव से अछूता नहीं मिल सकता। क्या कहानी, क्या नाटक, क्या उपन्यास और क्या काव्य, साहित्य के सभी अंगों पर तत्कालीन सामाजिक वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है। एक प्रबन्ध काव्य में तो तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि 'सूरसागर' को प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता और न सूरदास का लक्ष्य श्रीकृष्ण के समस्त जीवन का चित्रण ही था, किन्तु फिर भी उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन की लीलाओं का जो कुछ चित्रण प्रस्तुत किया है उसमें तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक स्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश पड जाता है।

'सूरसागर' में ब्रज का जो सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है, उसमें श्रीकृष्ण के चित्रण के साथ-साथ, वहाँ के गार्हस्थ जीवन का भी विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। उस समय जो आचार विचार ब्रज के समाज में प्रचलित थे और उनका जितना परिचय सूर को था, उतना और वैसा ही चित्रण 'सूर-सागर' में उपलब्ध हो जाता है। ये आचार-विचार तो पूर्णत. चित्रित हैं,

ही, साथ ही सूर ने इनका वर्णन भी बड़े नैसर्गिक ढग से किया है। जन्मोत्सव छठी, नामकरण, अन्न प्रादान, वर्षगांठ, कर्ण-छेदन, गोवर्धन पूजा आदि अनेक प्रसंगो से ऐसे उदाहरण 'सूरसागर' में उपलब्ध हो जाते हैं जिनमें कवि ने व्रज में प्रचलित तत्कालीन आचार-विचारों का चित्रण किया है।

जन्मोत्सव

सर्वप्रथम हम जन्मोत्सव के प्रसंग की ही बात लेते हैं। भारतवर्ष ऐसा देश है जहां पुत्र-जन्म अनेक पुण्यों का परिणाम माना जाता है। सामान्यतः यहां सभी स्त्री-पुरुष पुत्र का मुख देखने को लालायित रहते हैं कृष्ण का जन्म हो गया है। देखिये, यशोदा क्या कर रही हैं—

"आवहु कन्त देव परसन्न भये पुत्र भयो मुख देखहु धाई।
दौरि नन्द गये सुत मुख देख्यो सोभा सुख बरनि न जाई॥"

कृष्ण के जन्म होने पर देखिये स्त्रियां किस प्रकार बधाई लेकर जा रही हैं—

"कोऊ भूषण पहिरयो, कोऊ पहिरति, कोऊ वैसे ही उठी धाई।
कंचन थार दूब दधि-रोचन गावत चलीं बधाई।"

अवसर बड़ा पवित्र एवं सुखदायक था। बन्दनवार बाँधे गये, वेदों की ध्वनि से आकाश गूँज उठा तथा ग्रह नक्षत्र शोधन हुआ। सूर के समय में ढाड़ी नाम की एक जाति थी। ये लोग ऐसे शुभ अवसरों पर नाचने गाने आ ये और दान के लिये झगड़ा करते थे। इस प्रकार का इनका उल्लेख 'सू सागर' में प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार छठी के समय के व्यवहारों का उल्लेख 'सूरसागर' में प्रा होता है। छठी के समय मालिन बन्दनवार बाँधती है। बालक को पालने लिटाकर आगन लीपा जाता है। नाइन महावर आदि लगाती है। भृत्यों अनेक प्रकार के वस्त्र बाँटे जाते हैं। सखियाँ पीले वस्त्र पहनकर आती हैं काजल तथा रोरी से छठी-कर्म किया जाता है। श्री कृष्ण का छठी नामक उत्सव इसी प्रकार मनाया गया।

इसी प्रकार नामकरण संस्कार का उत्सव होता है। नामकरण के लिये ब्राह्मण तथा चारण आमन्त्रित किये जाते हैं। वे आकर दूर्वा देते हैं हल्दी तथा दही से बालक का टीका किया जाता है। ब्रज में इसी प्रकार बालक का नाम रखा जाता था। श्रीकृष्ण के नामकरण के अवसर पर ब्रज में प्रचलित यही क्रिया की गई।

लगभग ६ माह पश्चात् अन्न-प्राशन संस्कार सम्पन्न हुआ। सादर पुरोहित जी को बुलाया गया। शुभ राशि सोधी गई। यशोदा ने सखियों को बुलवाकर इस शुभ अवसर पर गीत गवाये। यशोदा को गालियाँ दी गईं। कृष्ण का उबटन किया गया और उन्हें अनेक आभूषणों से अलङ्कृत किया गया। मुँह जुठारने के हेतु नन्द श्रीकृष्ण को गोद में लेकर बैठे। पुरुष-वर्ग ने नन्द के साथ आनंद विनोद किया। थोड़ी देर के पश्चात् थाली में खीर लाई गई। नन्द ने पुत्र के मुख पर खीर लगाई और सब स्त्रियां तत्सबंधित गीत गाने लगीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण का अन्न-प्राशन संस्कार सम्पन्न हुआ। ब्रज में सूर के समय में अन्न-प्राशन-संस्कार की यही विधि प्रचलित थी।

वर्षगाँठ

जब श्रीकृष्ण एक वर्ष के हुए तो वर्ष गाँठ मनायी गई। ब्राह्मण तो निमन्त्रित थे ही, ब्रज के अधिकांश जन भी आमन्त्रित किये गये। चौक पूरा गया। यशोदा ने कृष्ण को उबटन लगाकर स्नान कराया। इसके पश्चात् वर्ष गाँठ का डोरा बाँधा गया। इस उत्सव पर मनोरंजन का कार्य-क्रम कुछ अधिक आकर्षक था। नाच भी हुआ और गाना भी वर्षगाँठ की यही विधि सूर के समय में प्रचलित थी।

कर्णछेदन

कर्णछेदन संस्कार का वर्णन 'सूरसागर' में इस रूप में उपलब्ध होता है—

'कृष्ण कुँवर को कन छेदन है, हाथ सुहारी भेली गुर की।
बिधिबिहँसत हरि हँसति हेरि हेरि, यशुमति के धुक धुक उरकी॥"

स्पष्ट है कि सूर के समय में कर्ण छेदन संस्कार को सम्पन्न करने के लिये नाई आता था। बालक के हाथ में सोन्हारी और भेली दी जाती थी। सींक पर रोचन भर कर बालक के कान पर चिन्ह लगाया जाता था और बालक पर न्यौछावर किया जाता था। ग्वाल बालों को वस्त्र पहनाये जाते थे।

गोवर्धन पूजा

उस समय व्रज में गोवर्धन पूजा भी प्रचलित थी। 'सूरसागर' में वर प्राप्त होता है कि सब ग्वाल-बाल सजकर गोवर्धन की ओर चले। अपने स वे षट्रस भोजन भी लाये थे। उन्होंने गोवर्धन की पूजा सम्पन्न की। ब्राह्म को बुला कर यज्ञारम्भ किया गया। ग्वाल-बाल पर्वत पर चढ़े और उस' दूध डाला और वस्त्राभूषण चढाये। लौट कर अपने घर आये; मंगलाचर हुआ और दीपमालिका का उत्सव मनाया।

शकुन-विचार

'सूरसागर' में पूजा का वर्णन भी प्राप्त होता है। सूर के समय में गौ शंकर एवं सूर्य की पूजा का प्रचार जोरों पर था। लोग व्रत रखते थे औ यमुना-स्नान करते थे। 'सूरसागर' में यत्र तत्र इस बात के संकेत मिलते हैं उन दिनों शकुन के मनाने का भी प्रचलन था। मृगमाला को यदि कोई दाहिं ओर जाते ेख ले तो उसके लिये वह शुभ माना जाता था। कौवे के उड़ने ं भी लोग शकुन मानते थे। 'सूरसागर' में इस प्रकार के शकुनों के यत्र-त सकेत प्राप्त हो जाते हैं।

विवाह रीतियाँ

यद्यपि सूर ने भी राधा और कृष्ण का गन्धर्व-विवाह ही कराया है। किन्तु अपने समय की प्रचलित विवाह की रीतियों का उन्होंने वर्णन किया है। मौन धारण करना, निमन्त्रण, मण्डप, गान, वेदमन्त्रों का उच्चारण, पाणिग्रहण तथा भाँवरि, गालियाँ गाना, कंकण खोलना आदि सभी विवाह से सम्बन्धित रीतियों का 'सूरसागर' में वर्णन है। कंकण खोलने का वर्णन निम्न पंक्तियों में दर्शनीय है—

"नहिं छूटै मोहन डोरना हो।
बड़े हो बहुत अब छोरियो हो ये गकुल के राई ।।
की कर जोरि करौ विनती, कै छुवो श्री राधा जी के पाँई।"

सामाजिक उत्सव

सामाजिक उत्सवों में वर्षा ऋतु के हिंडोले और वसन्त के होलिकोत्सव का वर्णन 'सूरसागर' मे विस्तार से मिलता है। यमुना-पुलिन पर हिंडोला पड़ जाता है और उसमें गोपिया राधा और कृष्ण को झुलाती हैं तथा स्वयं भी झूलती हैं। होली खेलने में गोपियाँ लोक, वेद, कुल, धर्म आदि की मर्यादा का उल्लघन कर देती हैं। वे मदमाती होकर कृष्ण के साथ क्रीड़ा करती हैं। होली तथा रासलीला में संगीत और नृत्य सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। गोपियाँ मडल बना कर नाचती हैं। पुलक से उनके कचुकी-बन्द भंग हो जाते हैं। नृत्य करते-करते गले के हार टूट जाते हैं तथा कानो के कुण्डल गिर पड़ते हैं। समस्त गोपिया अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं।

वसन्त का वर्णन निम्न लिखित पंक्तियो में दृष्टव्य है—

"कोकिल कूली बन-बन फूले मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयो भोर रोर बन्दिन को मदन महीपति जागे।
तिन दूने अकुर द्रुम पल्लव जे पहिले दबदागे।
मानहु रतिपति रीझि याचकन बरन बरन दए बागे ।।"

× × ×

"ऋतु बसन्त के आगमहिं मिलि झूम कहो।
सुख सदन मदन को जोर मिलि झूम कहो ।।
कोकिल बचन सोहावनो मिलि झूम कहो।
हित गावत चातक मोर मिलि झूम कहो ।।"

खेल

उस समय बालकों में कौन-कौन से खेल प्रचलित थे; इसका भी कुछ संकेत 'सूरसागर' में प्राप्त हो जाता है। आख मिचौनी, गेंद खेलना, भौरा-चकडोरी

चौगान-बल्ला, पत्तों के साथ घूमने का खेल, ताली मार कर भागना तथा पीछे से पकड़ना आदि अनेक प्रकार के खेलों का उल्लेख 'सूरसागर' में है। वयस्कों के मनोरंजन के लिए वाद्य नृत्य के अतिरिक्त जलक्रीड़ा का उल्लेख भी क स्थानों पर मिलता है।

भोजन

तत्कालीन दिनचर्या के प्रसंगों में प्रातःकाल के कलेऊ, दोपहर के भोजन तथा सायंकाल की 'ब्यारी' का वर्णन भी 'सूरसागर' में मिलता है। कलेऊ में माखन-रोटी, दूध, दही, और मेवा का उल्लेख है। वास्तव में भोजन की लम्बी लम्बी सूचियाँ सूर ने प्रस्तुत की हैं जिनसे तत्कालीन खाने-पीने की सामग्रियों का अनुमान लगाया जा सकता है।

नैतिक अवस्था

कृष्ण लीलाओं में प्रसंगवश कुछ ऐसे उल्लेख भी प्राप्त हो जाते हैं जिनसे उस समय के समाज की नैतिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। सूर के समय में ब्रज के निवासियों का जीवन एक प्रकार से वर्णगत जीवन था। वे कृषि तथा पशुपालन द्वारा अपना पेट भरते थे। स्त्रियाँ घर का कार्य करती थीं तथा दही बेचने जाती थीं। पुरुष कृषि करते थे और बालक गौ चराते थे। बहू-बेटियों पर यद्यपि पर्याप्त रोक टोक तथा कठोर नियंत्रण था तथापि गाँव के किशोर और युवक यमुना पर स्नान करते, पानी भरते तथा दही बेचने जाते समय उनके साथ छेड़-छाड़ करने का अवसर खोज ही लेते थे। वास्तव में उस समय ब्रज के समाज का जीवन बहुत कुछ उच्छृङ्खलतापूर्ण था। 'सूरसागर' में वर्णन मिलता है कि कृष्ण अपनी प्रकृति के सखाओं को लेकर गोपियों का मार्ग रोकने के लिए पेड़ो पर चढ़ जाते हैं। जब गोपियाँ वहाँ से होकर निकलती हैं तो वे सब अचानक कूद पड़ते हैं और गोपियों से मटकी छीन लेते हैं। इतना ही नहीं, वे उनके चोली के बन्द तोड़ देते हैं, भुजाओं में भर अंकवार देते हैं और बाहें पकड़ कर झकझोर देते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि ब्रज में इसके विरुद्ध चर्चा होती है, किन्तु तब भी यही व्यवहार चलता रहता है। यह थी उस

समय की नैतिक अवस्था जो उच्छृङ्खलता से भरपूर थी। वैसे ब्रजवासी सरल स्वभाव वाले, दूसरों पर विश्वास करने वाले तथा भीरु स्वभाव के चित्रित हैं। कंस का भय उन पर सदैव छाया रहता था। संभवतः कृष्ण की मधुर लीला में ही ब्रज के इन अहीरों के संकट के निवारण का एकमात्र साधन था।[१]

आदर्श

'सूरसागर' के वर्णन स्पष्टतः इस तथ्य के परिचायक हैं कि ब्रज के निवासी प्याज, लहसुन, माँस आदि का सेवन नहीं करते थे। किन्तु उस समय का मनुष्य सांसारिक वासनाओं में पूर्ण रूप से लिप्त था। उसके सम्मुख कोई उच्च आदर्श नहीं था। वह हिंसा, मद और मोह में फंसा हुआ था। वह झूठी आशाओं के सुख-स्वप्न देखा करता था। आहार-निद्रा में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत कर रहा था—

> "अब हौं माया हाथ बिकानौ।
> परबस भयो पसू ज्यौं रजुबस, भज्यो न श्रीपति रानौ॥
> हिंसा मद ममता रस भूल्यौ, आशा ही लपटानौ।
> यही करत आधीन भयो हौं, निद्रा अति न अघानौ॥
> अपने ही अज्ञान तिमिर में, बिसर्यो परम ठिकानौ।
> सूरदास की एक आँखि है ताहू में कछु कानौ॥"

उस समय मनुष्य के सामने केवल 'हरि-भक्ति' ही एक आदर्श था, किन्तु 'हरि-भक्ति' में अपने मन को लगाना कोई सुगम कार्य नहीं था। विषय-वासनाओं की ओर मनुष्य बहुत अधिक आकर्षित था। वह विषय-वासनाओं में इतना लिप्त था कि उसे कर्तव्य का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहा था। जन्म-जन्मान्तर विषय-वासनाओं में ही वह भटकता रहता था। पेट भरने में ही उसका समस्त जीवन बीत रहा था। पेट भी वह कुत्ते और सुअर की

---

१. हमारी सम्मति में इन घटनाओं को तत्कालीन ब्रज-समाज की नैतिकता की कसौटी मानना उचित नहीं है, क्योंकि ये घटनाएँ माधुर्य भक्ति के स्वरूप-निरूपण के लिए आवश्यक थीं। —संपादक

भाँति भरता था। अन्त में उसकी क्या गति होती थी? यह इन पंक्तियों में देखिए—

> "सुतन तज्यौ, तिय तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तें त्वच भई न्यारी।
> स्रवन न सुनत, चरन गति थाकि नैन बहे जल धारी॥
> पलित केस कफ कंठ बिरुँध्यौ, कलि न परत दिन राती॥
> माया मोह न छाँड़ै तृष्णा, ये दोऊ दुख पाती॥"

यह थी सूर के समय की सामाजिक अवस्था जिस पर 'सूरसागर' के अध्ययन से प्रकाश पड़ता है।[1]

धार्मिक स्थिति

धार्मिक क्षेत्र में भी ढोंग और पाखंड का राज्य था। जप-तप केवल आडम्बर मात्र था। उस समय नाथ-पंथियों की प्रधानता थी। आसन, ध्यान और साधना इन योगियों की योग-साधना के अंग थे। मुंद्रा, भस्म, मृगचर्म और विषाण ये लोग धारण करते थे। गोरख का नाम लेकर ये लोग अलख जगाया करते थे। इन लोगों का कहना था कि संसार ब्रह्ममय है और मनुष्य को इसे इसी रूप में देखना चाहिए। निम्न लिखित पंक्तियों से इनकी साधना की स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा—

> "इंगला पिंगला सुखमना नारी।
> सून्यो सहज में बसो मुरारी॥
> ब्रह्मभाव करि सब में देखो।
> अलख निरंजन को ही लेखो॥
> पदमासन इक मन चित लायो।
> नैन मूंदि अन्तर्गत ध्यायो॥

---

१. इस प्रकार के वर्णनों में सामाजिक चित्रण की अपेक्षा भक्त का दैन्य प्रमुख है। —संपादक

हृदय कमल में ज्योति प्रकाशी ।।
सो अच्युत अविगत अविनाशी ।"

इन योगियों के अतिरिक्त उस समय निर्गुण ब्रह्म के उपासक भी बहुत अधिक मात्रा में थे। सन्यासी और पंडित दिन-रात साधना-पद्धति के तर्क-वितर्कों में फंसे रहते थे। काशी इन साधुओं एवं पंडितों का केन्द्र था।

बात यह है कि उस समय के मनुष्यों का जीवन विलासिता एवं झूठे आडम्बरों से परिपूर्ण था। मनुष्य-जीवन अस्थिर भावनाओं से ओत-प्रोत था। उस समय के लोगों के सम्मुख कोई उच्च आदर्श नहीं था। वे अपना सारा जीवन आलिंगन, चुम्बन और परिरम्भन में ही बिता देते थे। ये पंक्तियाँ इस तथ्य के प्रमाण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं—

"आलिंगन चुम्बन परिरम्भन ।
नख छत चारन परस्पर हंसी ।।
केतिक करना बेलि चमेली ।
सुमन सुगंध सिंचाये ।।"

सांसारिक यातनाओं से मुक्त होने के लिए लोग सन्यासी भी बन रहे थे, किन्तु वैभव एवं कीर्ति का लोभ उनका यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ता था। उस समय अपने वैभव को प्रकट करने का लोगों में बड़ा चाव था। उपासना के तो बाह्यांगों पर ही अधिक बल दिया जाता था।

इस प्रकार सूर के समय की सामाजिक और धार्मिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी। जिसका पता 'सूरसागर' के अध्ययन से सरलतापूर्वक लग जाता है।

प्रश्न ८—"भक्त कवि होने के कारण सूरदास ने नायिका-भेद का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया, किन्तु उनके शृंगारिक कथन में नायिका भेद का स्वाभाविक विकास है।" इस कथन की उदाहरण सहित पुष्टि कीजिये।

महाकवि सूरदास हिंदी-साहित्य में भक्त-कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे भक्त पहले हैं और कवि बाद में। भक्ति उनका साध्य है और काव्य उसका

साधन। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि वे वात्सल्य और शृंगार रस के अनुपमेय कवि हैं। वात्सल्य रस का तो उनके काव्य में सम्यक् चित्रण प्राप्त होता ही है साथ ही शृंगार रस के भी दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का भी स्वाभाविक, हृदयस्पर्शी एवं पूर्ण चित्रण है।

सूर का नायिका-भेद

काव्यशास्त्र के अनुसार शृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद का भी महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु भक्तराज सूरदास ने अपने शृंगार वर्णन में रीतिकालीन कवियों की भांति नायिका-भेद का कोई शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके शृंगार-वर्णन में नायिका-भेद का समावेश नहीं है। भक्त कवि होने के नाते उन्होंने यद्यपि नायिका-भेद का कोई शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया, तथापि उनके शृंगारिक कथन में नायिका-भेद का स्वाभाविक विकास विद्यमान है। सूरदास जी ने राधाकृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का ऐसा विशद वर्णन किया है कि उसमें नायिका-भेद का अपने आप स्वाभाविक विकास हो गया है। 'सूरसागर' के नायक-नायिका कृष्ण और राधा के पारस्परिक प्रेम के क्रमिक विकास, उनके संयोग और वियोग की अनेक चेष्टाओं तथा उनके मान, उपालम्भ आदि की अनेक उक्तियों में नायिकाओं के अनेक भेदोपभेद अपने आप आ गये हैं। रीतिकालीन कवियों की भांति महात्मा सूरदास ने नायिका-भेद का कोई शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया।

पुष्टि-सम्प्रदाय में परकीया भक्ति अग्राह्य है। उसमें केवल स्वकीया भक्ति का ही महत्त्व है। अतः 'सूरसागर' में परकीया नायिका के वर्णनों का अभाव है और स्वकीया के अनुकूल अज्ञात यौवन से लेकर मध्या, प्रौढ़ा आदि सभी नायिकाओं का वर्णन प्राप्त हो जाता है। इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार राधा स्वकीया और चन्द्रावली परकीया नायिका है, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य गोपियाँ भी श्रीकृष्ण से प्रेम करती हैं। अधिकांश गोपियाँ स्वकीया भाव से ही कृष्ण से अनुराग करती हैं, अतः वे भी स्वकीया नायिका

ही मानी जाएँगी । कहीं-कहीं उनमें परकीया तत्व की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। इनके अतिरिक्त 'सूरसागर' में गर्विता, मानवती, प्रोषितपतिका, अभिसारिका, खण्डिता आदि नायिकाओं के भी वर्णन प्राप्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण का तात्पर्य यह है कि सूर के काव्य में यद्यपि नायिका-भेद का कोई शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं हो पाया है, किन्तु उसमें लगभग सभी प्रकार की नायिकाओं के कथन शृंगार वर्णन के अन्तर्गत आ गये हैं। उदाहरणों द्वारा इस बात की पुष्टि करना परमावश्यक है, अतः अब हम उदाहरणों द्वारा ही अपने कथन की पुष्टि करेंगे।

अज्ञात यौवना

ब्रज-बालाओं को अपने विकसित अंगों का कुछ भी ध्यान नहीं है। वे अज्ञात यौवना हैं। यद्यपि वे युवावस्था में पदार्पण कर चुकी हैं, तथापि उन्हें अपना यौवन ज्ञात ही नहीं है। दानलीला प्रसंग में श्रीकृष्ण अनेक उपमानों द्वारा उन्हें उनके विकसित अंगों का ध्यान दिलाते हैं। इस प्रकार सूर के इस शृंगारिक कथन में अज्ञात यौवना नायिका का चित्रण हो गया है। निम्नोद्धृत पद इसके लिये उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है—

"यह सुनि चकित भईं ब्रज बाला।
तरुनी सब आपुस में बूझति कहा कहत नन्द लाला।
कहाँ तुरंग, कहाँ गज केहरि, कहाँ हंस सरोवर सुनिये।
कनक कलस गढ़ाये कब हम, देखे धौं यह गुनिये।
कोकिल कीर, कपोत बनन में, मृग खंजन, सुक संग।
तिन को दान लेत हैं हमसों, देखहु इनके रंग।
कंचन, और सुगंध बतावत, कहाँ हमारे पास।
'सूरदास' जो ऐसे दानी देखि लेहु चहुँ पास॥"

अधीरा नायिका

अधीरा नायिका का कथन इस पद में दृष्टव्य है—

"मोहि छुयौ जिनि दूर रहो जू।
जाकों हृदय लगाइ लई है, ताकी बाँह गहो जू।
तुम सर्वज्ञ भौर सब मूरख सो रानी भौ दासी।
मैं देखति हिरदै वह बैठी, हम तुमको भई हांसी।
बाँह गहत कछु सरम न आवत, सुख पावत मन माँही।
सुनहु 'सूर' मो तन को इक टक चितवति डरपति नाहीं॥"

आनंद-सम्मोहिता नायिका

नायिका का एक प्रकार 'मानन्द सम्मोहिता' नायिका भी होता है। इसं कथन भी सूरदास के काव्य में कई स्थलो पर प्राप्त हैं। अपनी भुजा श्याम की भुजा पर तथा श्यामा की भुजा अपनी छाती पर रखे हुए श्रीडामग्न इस प्रकार की नायिका का चित्रण इस पद मे देखिये—

"नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा श्याम भुज ऊपर, श्याम भुजा अपने उर धरिया।
क्रीड़ा करत तमाल तरुन पर, स्यामा-स्याम उमंग रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर-उर ज्यों, मरकति मनि कंचन में जरिया।
उपमा काहि देऊँ को लाइक, मनमथ कोटि बारने करिया।
'सूरदास' बलि-बलि गोरी पर, नन्द कुंवर वृषभानु कुंवरिया॥"

मानवती नायिका

नायिका भेदों में 'मानवती' नायिका का प्रमुख स्थान है। नायक के दोषों का अनुमान लगा कर नायिका नायक पर कुपित होती है और मान करती है। नायक उसे कुपित देखकर मनाने का प्रयास करता है। शृंगार के प्रकरण में इस प्रकार के चित्रण का बहुत महत्व है। 'मानवती' का एक ऐसा ही उदाहरण 'सूरसागर' मे से यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"कहा भई धन बावरी, कहि तुमहि सुनाऊँ।
तुमते को है भावती, सो हृदय बसाऊँ।

तुमहि स्रवन, तुम नयन हो, तुम प्रान अधारा।
वृथा क्रोध तिय क्यों करो, कहि बारम्बारा।
भुज गहि ताहि बतावहु, जो हृदय बतावति।
सूरज प्रभु कहे नागरी तुमतें को भावति ॥"

राधा कुपित होकर मान किये बैठी हैं। कृष्ण जी उसे मना रहे हैं। वे कहते हैं कि हे राधा ! तुम मेरे कान हो, तुम ही मेरे नैन हो, तुम ही मेरे प्राणों का आधार हो। तुम व्यर्थ ही क्रोध क्यो करती हो ? जिसे तुम मेरे हृदय मे बताती हो, उसकी तनिक बाँह पकड कर बताओ तो सही।

दूती

इसी नायिका-मान मे 'दूती' का भी प्रमुख स्थान माना जाता है। 'दूती' का मुख्य कार्य यह बताया जाता है कि वह रुष्ट नायिका को नायक के अनुकूल करने का प्रयास करती है। दूती का कार्य इस पद मे दर्शनीय है—

"यह ऋतु रूसिबे की नाहीं।
बरसत मेघ मेदिनी के हित, प्रीतम हरषि मिलाहीं ॥
जे तमाल ग्रीषम ऋतु डाहीं, ते तरुवर लपटाहीं।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन मिलन समुद्रहि जाहीं ॥
जोबन धन है दिवस चारि को, ज्यों बदरी की छांहीं।
मैं दम्पत्ति रस रीति कही है, समुझि चतुर मनमांहीं ॥"

दूती मानवती नायिका को नायक के अनुकूल बनाने के लिए उपदेश देती हुई कहती है कि हे राधा ! यह ऋतु (वर्षा ऋतु) प्रिय से रूठने के हेतु नहीं है। तनिक देखो तो सही, इस वर्षाकाल में नदियाँ तो समुद्र से मिलने जा रही हैं, लतायें द्रुमो से मिल रही हैं, फिर तू ही मान किये क्यो बैठी है ? यह यौवन बादल की परछाई के समान थोडे मे समय तक ही ठहरने वाला है, अतः तुम तुरन्त मान त्याग कर श्रीकृष्ण से प्रसन्न हो जाओ।

उत्कण्ठिता नायिका

अपने प्रिय से मिलने के लिए उत्सुक 'उत्कण्ठिता' नायिका कहलाती है। सूर ने इस पद में उसी प्रकार की नायिका का वर्णन है—

> "चन्द्रावली स्याम मग जोवति।
> कबहुं सेज कर झारि, कबहुं मलय रज ओवती॥
> कबहुं नैन अलसात जानि कै जल लै मैं पुनि धोवति।
> कबहुं भवन, कबहुं आंगन है, ऐसे रैनि बिगोवति॥
> कबहुंक विरह जरति अति व्याकुल मन में अति।
> 'सूर स्याम' बहु रमनि-रमन पिय, यह गहि तब गुन तोवति।"

नायिका कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही है। उसे नींद आ रही है तो भी उसकी प्रतीक्षा मे वह जगी रहना चाहती है। कभी नींद-सी आई जान कर वह जल से अपने नेत्र धोने लगती है, जो कभी प्रतीक्षा की व्याकुलता में बाहर आती है और कभी भीतर जाती है। कभी बिस्तर झाड़ने मे ही प्रतीक्षा की घड़ियो को काटने का प्रयास करती है।

इसी प्रकार 'प्रेमासक्ता' नायिका का चित्रण निम्न पंक्तियो मे दृष्टव्य है।

> "कबहु मगन हरि के नेह।
> स्याम सग निसि सुरति को सुख भूलि अपनी देह॥"

अभिसारिका नायिका

सोलह शृङ्गारों से अपने को अलंकृत करके प्रिय से मिलने के लिए जाती हुई 'अभिसारिका' का चित्रण इस पद मे देखते ही बनता है—

> प्यारी अंग शृंगार कियो।
> बेनि रची सुभग कर अपने टीका भाल दियो॥
> मोतियन मांग संवारि प्रथम ही केसरि आग सवांरि।
> लोचन आंजि सदन तरवन छवि, को कवि कहे निवारि॥
> नासा नय अति ही छवि राजत, बीरा अधरन रग॥
> नय सत साजि चली चोली बनि, 'सूर' मिलन हरि संग॥"

प्रोषितपतिका

विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत अनेक पदों में सूर ने विरहिणी 'प्रोषित पतिका' नायिका का भी चित्रण किया है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियाँ जिस विरहाग्नि में जली हैं और उन्होंने जो करुण विलाप किया है वह देखते ही बनता है। एक उदाहरण देखिये—

> "हरि ! परदेश बहुत दिन लाये।
> कारी घटा देखि बादर की, नैंन नीर भरि आये ॥
> बीर बटाऊ, पंथी हो तुम, कौन देश ते आये ?
> इहो पाती हमरी लै दीजो, जहाँ सांवरे छाये ॥
> दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाये।
> 'सूरदास' गोकुल के बिछुरे, आपुन भये पराये ॥"

खंडिता नायिका

'सूरसागर' के पदों मे 'खंडिता' नायिका से सम्बन्धित कथन भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित पद मे इसका उदाहरण दर्शनीय है—

> "प्यारी चितै रही मुख पिय को ॥
> कज्जल अधर कपोलनि बन्दन लाग्यो काहू त्रिय को ॥
> सुरत उठी दर्पण कर लीन्हो देखो बदन सवारो।
> अपनो मुख उठि प्रात देखि के तब तुम कहाँ सिधारो ॥
> काजर बिन्दन अधर कपोलनि सकुचे देखि कन्हाई।
> 'सूरस्याम' नागरि मुख जोवति वचन कह्यो नहीं जाई ॥"

प्रातःकाल का समय है। नायिका दर्पण लेकर नायक को अन्य ससर्ग के चिन्ह दिखा रही है।

वासकसज्जा नायिका

दस नायिका भेदों मे 'वासक सज्जा' नायिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे सम्बन्धित कथन निम्न पद में देखिये--

"राधा को मैं तब ही जानी।
अपने कर जे मांग सवारे रचि-रचि बेनी पानी॥
मुख भरि पान मुकुर लै देखति निनमों कहत सयानी।
लोचन आंजि सुधारति काजर छांह निरखि मुसकानी॥
बार बार उरजनि अवलोकति उनते कौन सयानी।
'सूरदास' जैसी है तैसी मैं बाको पहचानी॥"

वचनविदग्धा तथा क्रियाविदग्धा

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने नायिका-भेद के विवेचन में परकीया-नायिका के अन्तर्गत 'वचनविदग्धा' तथा 'क्रियाविदग्धा' का भी कथन किया है। 'सूरसागर' के पदों में अनेक स्थानों पर यह वचन तथा क्रिया की विदग्धता देखने को मिल जाती है। वचन-विदग्धता का एक सुन्दर चित्रण निम्न पद में दर्शनीय है—

"तब राधा इक भाव बतावति।
मुख मुसकाई सकुचि पुनि लीन्ही,सहज चली अलकै निरवारति॥
एक सखी आवत जल लीन्हे, तासों कहत सुनावति।
टेर कह्यो घर मेरे जंहों, मैं जमना ते आवति॥
तब सुख पाइ चले हरि घर को हरि प्यारीहि मनावत।
'सूरज' प्रभु वितपन्न कोक-गुन-ताते हरि-हरि ध्यावत॥"

इस पद मे राधा की वचन-विदग्धता देखते ही बनती है। वह सखी को सुना कर कृष्ण को वचन-संकेत दे देती है कि तुम घर चलो, मैं अभी यमुना से आती हूँ। यह तो माना जा सकता है इस पद में परकीयत्व का भाव नहीं है, किन्तु वह विदग्धता अवश्य है जिसके विषय मे काव्य शास्त्र के आचार्यों ने कहा है।

इसी प्रकार क्रिया-विदग्धता निम्न पद में देखिये—

"स्याम अचानक आय गयो री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत ही मेरे नैन नये री।

सब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सो सर परस किये री।
आप हंसे उत पाग मसकि हरि, अन्तरजामी जान लिये री ॥"

नायिका गुरूजनों के साथ बैठी है। कृष्ण भी वहीं आ गये। अब मिलने का सकेत गुरूजनों के सामने कैसे दिया जाय? एक बात मस्तिष्क में आई। झट से हाथ से माथे की बिन्दी छूकर चन्द्रोदय के समय मिलने का निर्देश कर दिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूरदास के काव्य मे नायिका-भेद का चित्रण स्वाभाविक रूप मे शृंगार के कथनो में मिल जाता है। यद्यपि उन्होंने नायिका-भेद का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया क्योंकि वे भक्त कवि थे और एक भक्त तथा रस-सिद्धीश्वर कवि के लिए शास्त्रीय निरूपण उचित भी नहीं था, तथापि 'सूरसागर' मे जो नायिका-भेद मिलता है, वह काव्यशास्त्रानुमोदित ही सिद्ध होता है।

प्रश्न ६—"हिन्दी साहित्य' में शृंगार रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।" इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये।

महाकवि सूरदास का हिन्दी-साहित्य में जो इतना ऊँचा स्थान है उसका एक मात्र कारण यह है कि वे वात्सल्य और शृंगार के अन्यतम कवि हैं। इन दोनो क्षेत्रो मे जितनी अन्तर्दृष्टि का विस्तार सूर का है उतना और किसी कवि का नहीं। वास्तव मे बात यह है कि सूर की गीति-काव्य की परम्परा जयदेव और विद्यापति से मिली थी, वह शृंगार की ही थी। यही कारण है कि इनके संगीत मे शृंगार रस की ही प्रधानता रही। इसका एक दूसरा कारण और भी है और वह है उनकी उपासना का स्वरूप। सूरदास जी बल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। श्री बल्लभाचार्य जी ने भक्तिमार्ग मे भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके आक्रमण द्वारा सायुज्य मुक्ति का मार्ग

दिखाया था। इसी प्रेम-तत्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रवृ
दिखाई पड़ती है।

संयोग-वर्णन

यहाँ हमें सूर के शृंगार वर्णन की विशेषताओं पर ही दृष्टिपात कर
है। शृंगार रस के दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। सर्वप्रथम उस
संयोग पक्ष पर ही विचार किये लेते हैं।

वृन्दावन के सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम व
उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौन्दर्य और मनमोह
चेष्टाओं को देखकर मुग्ध होती चली जाती हैं। उधर कृष्ण कौमार्य अवस
की स्वाभाविक चपलता-वश गोपियों से छेड़छाड़ करना आरम्भ कर देते हैं
इसी हास-परिहास एवं छेड़छाड़ के साथ सूर ने प्रेम-व्यापार का स्वाभावि
आरम्भ दिखाया है। इस प्रेम का आरम्भ किसी की रूप-चर्चा सुन कर अथव
अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर नहीं हुआ है। यहाँ तो नित्य अपने बी
चलते-फिरते, हंसते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्
हो जाती हैं और कृष्ण गोपियों में।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि सूर के प्रेम की
उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बाल-क्रीड़ा के सखा
सखी ही आगे चल कर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। स्वभावत
यह ठीक भी है कि जब कृष्ण और गोपियाँ एक साथ रहे, खेले, हंसे तो
उनमें प्रेम हो गया। इस साहचर्य के अतिरिक्त कृष्ण और राधा का रूप भी
अपार था। सूर ने राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति इसी रूप के
आकर्षण द्वारा बतायी है —

> "खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
> गये स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसत चंदन की खोरी॥

औचक ही देखी तहं राधा, नैन बिसाल, भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखते ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरि॥"

× × ×

"बूझत श्याम, "कौन तू, गोरी।
कहां रहति, काकी तू, बेटी? देखी नाहि कबहुँ ब्रज खोरी"॥

+ × ×

"काहे को हम ब्रज तन आवति? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नन्द ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥

× × ×

"तुम्हारो कहा चोरि हम लैहैं? खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी।"

खेल ही खेल में प्रेम जैसी महान् वस्तु दोनों ओर समान रूप से उत्पन्न हो गई। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का सारा जीवन इसी प्रकार की क्रीड़ाओं से भरपूर है और यह सारी क्रीड़ा संयोग पक्ष के अन्तर्गत आती हैं। इस वर्णन से विभावों की परिपूर्णता कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता के अत्यधिक प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में तथा वृंदावन के करील-कुंजों, लोनी लताओं, हरे-भरे कछारों, खिली हुई चांदनी, कोकिल-कूजन आदि में दर्शनीय है। वास्तव में अनुभावों और संचारियों का इतना बाहुल्य और कहीं नहीं मिल सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि संयोग-सुख के जितने भी क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं, वे सभी सूर ने लाकर एक स्थान पर एकत्रित कर दिये हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनके संयोग वर्णन के विषय में ठीक ही कहा है कि सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। 'सूरसागर' में राधा कृष्ण के रंग रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की

राधा उमंगों का प्रदाय कोष प्रतीत होता है। जिस समय प्रेम का उदय होता है उस समय की विनोद-वृत्ति और हृदय-प्रेरित हावों की छटा चारों ओर छलकी पड़ती है। राधा और कृष्ण एक दूसरे के घर आते-जाते हैं। कृष्ण जब गायें चराने वन को जाते हैं तो वहाँ भी दोनों का संयोग हो जाता है। दोनों के संयोग के कुछ चित्र देखिये—

> "हरि ल्यो प्यारी, हरि, अपनी गैयां।
> नहिन बसात लाल कछु तुम सों सबै ग्वाल इक ठैयां॥
>
> "तुम पै कौन दुहावै गैया ?
> इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखियो है मैया ?"

राधा बार-बार कृष्ण के घर जाया करती थी। एक बार यशोदा ने उससे पूछ ही लिया कि तू यहाँ बार-बार क्यों उत्पात मचाने आती है ? इस प्रश्न का जो उत्तर राधा ने दिया, उसमें प्रेम के आविर्भाव की कितनी सीधी सादी एवं भोली व्यंजना है—

> "बार बार तू ह्यां जनि आवै।
> "मैं कहा करौं सुतहि नहिं बरजत, घरते मोहि बुलावै॥
> मोसो कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान।
> छोह लगत मोको सुनि बानी, महरि ! तिहारो आन !"

इस प्रकार हमने देखा कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत पूर्ण परिज्ञान महाकवि सूरदास को था, वैसा सम्भवतः और किसी कवि को न था। इनका सारा संयोग-वर्णन वास्तव में एक विस्तृत प्रेमचर्या है। प्रेमचर्या मे आनन्दोल्लास के जितने स्वरूप दिखाई पड़ते हैं उनकी गणना करना भी कठिन है। संयोग-पक्ष के जितने भी क्रीड़ा-विधान हो सकते उन सभी को लाकर सूर ने एकत्रित कर दिया है। पनघट प्रस्ताव,

विहार, यमुना-स्नान, जलकेलि-समय पीठ मर्दन, गो-दोहन के समय कृष्ण का राधा के मुख पर दूध की छींटें फेंकना, भरे आंगन में संकेत द्वारा बातें करना, घर के पीछे खरिक में मिलना, हिंडोले पर झूलना आदि न जाने कितने संयोग के क्षण सूर ने दिखाये हैं। रासलीला, दानलीला, मानलीला, आदि सभी संयोग वर्णन की प्रेमचर्य्या के अन्तर्गत आ जाती हैं।

मुरली पर कही हुई उक्तियों के विषय में भी हम कुछ कहे बिना नहीं रह सकते क्योंकि उनसे भी प्रेम की सजीवता टपकती है। यह सजीवता कोई साधारण सजीवता नहीं है। यह तो भरे हुए हृदय से छलक कर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ा देती है। गोपियाँ कृष्ण को ही नहीं छेड़तीं, वे तो उनकी मुरली तक को भी व्यंग्य करती हैं। उन्हें मुरली कृष्ण के सम्बन्ध से कभी इठलाती, कभी उन्हें चिढ़ाती और कभी प्रेम-गर्व प्रकट करती दिखाई देती है। अतः वे कभी उसके भाग्य की सराहना करती हैं, कभी उसे फटकारती हैं और कभी ईर्ष्या प्रकट करती हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

"माई री! मुरली अति गर्व काहू बदत नहिं आज।
हरि के मुख कमल देखु पायो सुख राज ॥"

× × × ×

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन, री सखी? जदपि नंदनंदहिं नाना भाँति नचावति।
राखति एक पांय ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति।
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट हम पर कोपि कंपावति ॥"

इस प्रकार हृदय के पारखी सूर ने मुरली के प्रति गोपियों की ऐसी भावना दिखाकर सम्बन्ध भावना की शक्ति का भी अच्छा प्रसार दिखाया है।

वियोग-वर्णन

संयोग-वर्णन की भांति सूर का विप्रलम्भ शृंगार भी विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी भी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढंगों से

इन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब सूर के विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में विद्यमान हैं।

सूर के विरह-वर्णन का विस्तार ही उनकी प्रमुख विशेषता है। जिस प्रकार अन्तहीन सागर की उदात्तता आनन्द देने वाली होती है। उसी प्रकार सूर के विरह-वर्णन को समझिये। किन्तु विस्तार तो एक उथली झील भी हो सकता है और झील कम सुन्दर भी नहीं होती है। किन्तु आखिर झील झील है और महासागर महासागर ही। एक झील और एक महासागर में जो अन्तर होता है, वही अन्तर दूसरे विस्तारवादी कवियों के विरह-वर्णन और सूर के विरह वर्णन में है। यही कारण है कि सूर का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

सूर के विरह वर्णन की श्रेष्ठता का एक कारण भाव-तीव्रता की रक्षा भी है। भावों की विविधता तथा तीव्रता दोनों तत्वों की रक्षा सूर ने ही सबसे अधिक की है। सारे मध्यकालीन साहित्य में जायसी, मीरा तथा सूर का विरह-वर्णन ही महान् हो सका है। जायसी में भावों की विविधता का अभाव है। उनके विरह-वर्णन में तीव्रता की अतिशयोक्ति-पद्धति पर अवलम्बना होने से अस्वाभाविकता आ गई है। तीव्रता की दृष्टि से 'मीरां' सूर के समकक्ष है। कहें तो कह सकते हैं कि कहीं-कहीं तो वे सूर से भी अधिक मार्मिक दृष्टिगोचर होती हैं। विश्व के समस्त नारी हृदयों की समस्त पीड़ा और कोमलता को जैसे 'मीरा' मानो अपने मुख से ही कह रही हो, किन्तु सूर की एक अद्वितीय विशेषता है—व्यंग्य और विनोद के आवरण में छिपा कर गोपियों की कसक को व्यक्त करना। यह विशेषता न तो जायसी में है और न मीरां में ही। मीरां तथा जायसी अपने हृदय का उद्घाटन प्रत्यक्ष रूप से कर जाते हैं। वे अपने रोदन और चीत्कार को छिपाते नहीं हैं, किन्तु सूर की गोपियाँ उपेक्षा, विश्वासघात एवं अपमानित और अन्तहीन वियोग के उत्पन्न करके दिल को चीरकर मुस्कराती रहती हैं। संसार का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान उनकी इस मुस्कराहट पर न्यौछावर है। सूर के अतिरिक्त कोई भी आँसू और मुस्कराहट का एक साथ संयोग नहीं कर सका है।

चार भेद

सूर के विरह वर्णन की श्रेष्ठता का सबसे, बड़ा प्रमाण तो यह है कि आचार्यों द्वारा वर्णित विरह की सभी अवस्थायें सूर में प्राप्त हैं। विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद माने जाते हैं पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। वास्तविक मिलन से पूर्व जो वियोग होता है उसे पूर्वराग, कहते हैं। प्रिय के गुण श्रवण, दर्शनादि के कारण ही उससे मिलने की अभिलाषा होती है और न मिल सकने के कारण वेदना होती है। मिलन होने पर नायक या नायिका प्रेम रहने पर भी किसी छोटे मोटे कारण से परस्पर रूठ जाते हैं; वही मान है। नायक के कार्यवश या शापवश विदेश चले जाने पर जो विरह होता है, वह प्रवास के अन्तर्गत आता है। जब नायक-नायिका को परस्पर मिलने की कोई आशा नहीं रहती तो उस वियोग को करुणात्मक कहा जाता है।

प्रवास

सूर ने जिस विरह का वर्णन किया है वह प्रवास के अन्तर्गत आता है। कृष्ण का कार्यवश मथुरा चला जाना ही विरहोत्पत्ति का कारण बनता है। कृष्ण का पुन: लौटकर न आना प्रवास को करुणात्मक विरह की सीमा तक ले जाता है। कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर नंद और यशोदा दु:ख के सागर में निमग्न हो गये हैं। दोनों के हृदय में वियोगात्मक भाव-तरंगें उठ रही हैं। यशोदा नन्द से खीझ कर कह रही हैं—

"छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई ब्रज की छाती, कत यह सूल सह्यो॥"
+ × × ×
"नंद। ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाँहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥"

'ठोंक बजाय' शब्द में व्यंजना दर्शनीय है। एक-एक शब्द के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई देता है। 'नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।' वाक्य

कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष, इन तीन भावों की मिश्र-व्यंजना से भरपूर है। इसे भावों की शबलता ही कहा जायगा। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में वियुक्त प्रिय के सुख के अनिश्चय की शंका तक पहुँचती हुई भावना, दीनता और क्षोभजन्य उदासीनता द्रष्टव्य है—

> 'संदेसो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करति ही रहियो ॥
> तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हो तऊ मोहि कहि आवै।
> प्रात उठत मेरे लाल-लडैतहि माखन रोटी भावै ॥"

'भ्रमरगीत' मे गोपियों की विरह दशा का जो वर्णन सूर ने किया है उसका तो कहना ही क्या है। इसके अन्तर्गत न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार है। इनकी गणना करना भी कठिन है। कृष्ण के चले जाने पर सायंकाल और प्रातःकाल तो उसी प्रकार हो रहे हैं किन्तु गोपिया के शरीरों की सब बातें बदल गई हैं। व्रज में सायंकाल का जो दृश्य पहले दिखाई दिया करता था, वह अब दिखाई नहीं देता, किन्तु गोपियों के मन से उसकी याद नही निकलती है—

> 'एहि बेरियाँ बन ते ब्रज आवते।
> दूरहि तें वे बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥"

कवियों मे प्राकृतिक पदार्थों को उपालम्भ देने की चाल बहुत दिनों से चली आती है। संयोग के दिनों में जिन प्राकृतिक पदार्थों से आनन्द की तरंगे उठती थीं, उन्हीं से वियोग के दिनों में गोपियों के हृदय में वेदना उत्पन्न होती है। एक उदाहरण देखिये, किस प्रकार वियोगिनी गोपियाँ अपने वीरान एवं नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे वृक्षों को कोसती हैं—

> "मधुवन! तुम कत रहत हरे?
> विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे?

तुम हो निलज्ज ! लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ?
ससा स्यार औ बन के पखेरू, धिक-धिक सबन करे ।
कौन काज ठाढ़ रहे बन में, काहे न उकठि परे ?"

अब तनिक एक ऐसे पद की पंक्तियाँ देखिये जो अधिकांश विद्वानों को प्रिय लगती हैं। साँपिनि की पीठ काली और पेट सफेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि यह काट कर उल्टी हो जाती है जिससे सफेद भाग ऊपर को हो जाता है। बरसात की अंधेरी रात्रि में कभी-कभी बादलों के हट जाने से जो चांदनी फैल जाती है वह इस प्रकार की ही लगती है। गोपियों को रात साँपिन सी ही लग रही है—

"पिया बिनु साँपनि कारी राति ।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डसि उल्टी ह्वै जाति ॥"

उभयपक्षी विरह

सूरदास के भ्रमरगीत में उभयपक्षी विरह के दर्शन होते हैं। कृष्ण भी गोपियों आदि के विरह में अत्यन्त दुःखी हैं, किन्तु कर्तव्य उनके मार्ग में बाधक है। अतः वे उद्धव को ही ब्रज भेजते हैं। उद्धव जब कृष्ण की भेजी हुई पाती गोपियों को देते हैं तो गोपियों के आनन्द की सीमा न रही। बार-बार वह पाती को देखती हैं और छाती से लगती हैं। इस मानसिक दशा का सूर ने जो स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, उसे इन पंक्तियों में देखिये—

"निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती ॥

उद्धव उनसे योग व ज्ञान की चर्चा करते हैं। गोपियाँ उद्धव को अपनी विवशता प्रगट कर ज्ञान का विरोध करती हैं—

"लरिकाई को प्रेम, कहो अलि कैसे छूटत ?"

× × ×

"बरन कमल की सपथ करति . . संदेसो . . पिय सम लागत ।"

गोपियों की अवस्था वास्तव में बड़ी दीन हो गई है। उनके नेत्रों से दिन रात आँसुओं की वर्षा होती रहती है। वे 'हारिल की लकरी' के समान हो गई हैं। उनके साथ सतायें जल रही हैं, गायें भी कृष्ण के विरह में क्षीण एवं कृशगात हो गई हैं। यमुना भी विरह के ज्वर से काली पड़ गई है। गोपियों के अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् की समानता दृष्टव्य है—

"देखियत कालिंदी अतिकारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी॥
मनु परंक ते परी धरनि धुकि तरंग तलफ तन भारी।
तटवार उपचार चूर जल भारी प्रसेद पनारी॥
बिगलित कच कुच कास पुलिन पर पंकज का जल सारी।
मानो भ्रमर ते भ्रमत फिरत हैं निसि दिन दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई वादि बकत हैं प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोइ जमुन गति सो गति भइ हमारी॥"

अन्तर्दशाएँ

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि वियोग की जितनी भी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और हो सकता है, वे सब सूर में प्राप्त हैं। इन सब अन्तर्दशाओं का प्रमाण सूर के विरह-वर्णन से दिया जा सकता है—

अभिलाषा—"ऐसे समय जो हरिजू आवहिं।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर बहुत सुख पावहिं॥

चिन्ता—कृष्ण से मिलने की अभिलाषा से चिन्ता की उत्पत्ति होती है सदैव गोपियों को कृष्ण की चिन्ता लगी रहती है, देखिये—

"हमको सपनेहु में सोच।
ऊधो अँखियां अति अनुरागी।"

स्मृति—प्रकृति के सुन्दर और मनमोहक दृश्यों को देखकर तथा विशेष परिस्थितियों के कारण गोपियों को कृष्ण की स्मृति हो आती है।

"मेरे मन इतनो सूल रहो।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कहीं॥"

गुण-कथन—एहि बेरियाँ बनते ब्रज आवते।
दूरहि ते वे बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥"

उद्वेग—वियोग में सुखद वस्तुओं का दुखदायी लगना तथा विकल हो जाना ही उद्वेग है।

"तिहारी प्रीति किधौं तरवारि।
दृष्टि धार करि मारि सांवरे, घायल सब ब्रज मारि॥"

प्रलाप—"कैसे पनघट जाऊं सखी री डोलें सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ चली है इन नैनन के नीर॥

उन्माद—उन्माद की अवस्था में प्रेमी का विवेक नष्ट हो जाता है। उसे सुखद वस्तुएँ भयंकर एवं दुःखदायी प्रतीत होती हैं। उस पर कुछ पागलपन सा छा जाता है।

"वे जो देखियत राते राते फूलन फूले डार।
हरि बिनु फूल झार से लागत झरि झरि परत शृंगार।"

व्याधि—रोग और वियोग से मन में जो सन्ताप उत्पन्न होता है उसे व्याधि कहते हैं। प्रस्वेद, कम्प, ताप आदि का अनुभव वियोगी को होता है।

"बिन गोपाल बैरिन भईं कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भईं भुंजें॥
ये ऊधो कहियो माधव सों विरह करद कर मारत लुंजें।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजें॥"

जड़ता—जड़ता की अवस्था में प्रेमी किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। वह एक दम जड़ हो जाता है। उस पर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता।

"परम वियोगिनी सब ठाढ़ीं।
क्यों जल हीन दीन कुमुदिनी बन रवि प्रकाश की डाढ़ीं॥
जिहि विधि मीन सलिल तें बिछुरें तिहिं अति गति अकुलानी।
सूखे अधर न कहि कछु आवें बचन रहति मुख बानी॥"

मूर्च्छा—जब विरही बार-बार अपने प्रिय का ध्यान करता है तो वह उसके विरह में संज्ञा शून्य हो जाता है।

"सोचत अति पछताति राधिका मूर्च्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें, बिथा न जात सही॥"

मरण—साहित्य शास्त्र के अनुसार साहित्य में मरण-दशा का वर्णन करना वर्जित है। मरणासन्न दशा का वर्णन किया जा सकता है। ऐसा ही वर्णन सूर ने किया है।

"अब हरि गवन कियो पूरब लौं अब लिखि जोग पठायो।
यह तन जारि के भस्म ह्वै निबरयो बहरि मसान जगायो॥
कै रे मनोहर आनि मिलाओ, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरत बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥"

स्थितियाँ

इन दशाओं के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र में प्रवास-विरह की दस स्थितियों का वर्णन है। ये दसों स्थितियाँ सूर के विरह-वर्णन में दृष्टव्य हैं—

मलिनता—" अति मलीन वृषभानु कुमारी।"
हरि स्राम जल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी॥"

सन्ताप—"ऊधो! यहै बिचार गहौ।
कै तन गए भलो मानें, कै हरि ब्रज आय रहौ॥

कानन-देह विरह-दव लागो इन्द्रिय जीव जरी।
बूझे स्याम घन कमल-प्रम-मुख मुरली बूंद परी ॥"

कृषता—"ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृषगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुःखारी गाय ॥"

पाण्डुता—"ऊधो ! जो हरि हितु तिहारे।
सो तुम कहियो जाय कृपा कै ले दुख सबै हमारे ॥
तन तरुवर ज्यों जरति बिरहिनी तुम दव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात, नहिं जरत छार ह्वै सुलगि-सुलगि भए कारे॥"

अरुचि—"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।"

अधृति—"दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाक्यो, नाहिंन होत चंद को ढरिबो।
बीती जाहि पै सोई जाने, कठिन प्रेम पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमल नयन, सीख, रहत न नयन-नीर को गरिबो ॥"

विवशता—"लरिकाई को प्रेम, कहो अलि, कैसे छूटत ?"

तन्मयता—"नयनत नंद नंदन ध्यान।"

उन्माद—"निरमोहिया सों प्रीति कीन्ही काहे न दुख होय ?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय ॥"

मूर्च्छा—"सोचति अति पछताति राधिका मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते, बिथा न जात सही ॥"

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि महाकवि सूरदास शृंगार रस के अद्वितीय कवि हैं। सयोग और वियोग दो अंग होने से शृंगार की व्यापकता बहुत अधिक है। यही कारण है कि वह रसराज कहा जाता है। शुक्ल जी का यह कथन वास्तव में सही है कि हिन्दी साहित्य में शृंगार रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है, तो सूर ने, यदि शृंगार रस रसराज है तो सूर को रससागर कहना उपयुक्त है।

प्रश्न १०—"सूर भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुंच गये थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

भक्तिकालीन कवियों के विषय में यह बात प्रायः निश्चित है कि वे भक्त पहले थे और कवि बाद में। कविता करना उनका मुख्य ध्येय नहीं था। उनका मुख्य ध्येय था भक्ति। भक्ति-काल में भक्ति की दो धारायें प्रवाहित हुई थीं—राम-काव्यधारा और कृष्ण काव्य धारा। कृष्णभक्त कवियों में प्रायः सभी कवि कृष्ण के रूप के उपासक रहे। वे रूप के वर्णन में इतने विभोर हो गये कि समाज की मर्यादाओं एवं आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। भक्तराज सूरदास भी ऐसे ही कृष्णभक्त कवि हुए हैं जिनका मुख्य लक्ष्य भक्ति ही था। तुलसी की भांति समाज की मर्यादाओं एवं आवश्यकताओं का ध्यान इन्हें नहीं था। वे तो भक्तराज थे, भक्ति ही उनके जीवन का परम लक्ष्य था, कविता भी वे इसी लक्ष्य की पूर्ति के हेतु करते थे, अतः समाज से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। वे तो दिन रात अपनी भक्ति में ही मस्त रहते थे। समाज की क्या आवश्यकता है, इसका उन्हें कोई ध्यान नहीं था।

दो कारण

महात्मा सूरदास की इस प्रवृत्ति के मुख्य कारणों पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो दो कारणों पर हमारी दृष्टि विशेष रूप से जाती है। महात्मा सूरदास के गुरु श्री वल्लभाचार्य जी थे जो श्रीकृष्ण के बाल तथा युवा-रूप के ही आराधक थे। उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन के इन्हीं दो अंशों का स्पर्श किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि वे माधुर्य भाव के उपासक थे। 'जैसे गुरु वैसे ही शिष्य' के अनुसार महात्मा सूरदास भी श्रीकृष्ण के बाल तथा युवा-रूप के ही उपासक बने। इस प्रकार की उपासना में लोक की आवश्यकता का ध्यान रहना असम्भव था, किन्तु इसका मतलब यह नहीं

है कि कृष्ण के जीवन मे राम के समान विविधतायें नहीं थीं। राम की भाँति वे भी आरम्भ से संघर्ष रत रहे। हमारी दृष्टि मे बाल्यावस्था मे जितने दानवों का संहार श्रीकृष्ण ने किया संभवतः उतने दानवों का संहार राम ने नहीं किया। राम ने यदि वन में जाकर सैकड़ो राक्षसों का संहार किया था तो कृष्ण ने भी छोटी सी अवस्था मे ही मथुरा जाकर कंस जैसे महादानव तथा अन्य अनेक राक्षसों का संहार किया था। महाभारत के कृष्ण की तेजस्वी मूर्ति की तो तुलना ही क्या ? वास्तव मे कृष्ण का जीवन भी अनेक विविधताओ से युक्त था। कृष्ण भक्त कवियो को तो दीक्षा ही ऐसी मिली थी कि वे केवल श्रीकृष्ण के लोकरजक रूप को ही ग्रहण करें। यदि वे कही प्रसगवश कृष्ण के लोक-रक्षक रूप का वर्णन भी कर गये हैं तो उसमें उनकी रुचि नही दिखाई देती। वल्लभ-सम्प्रदाय मे कृष्ण केवल कोमल ही चित्रित हैं, कठोर नही। उनकी भक्ति वैधी नहीं थी, वह तो रागानुगा की भक्ति थी। वैधी भक्ति का सम्बन्ध तो नीति तथा सदाचार आदि लौकिक बातों से होता है। रागानुगा भक्ति मे नीति और सदाचार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसमे तो केवल भक्त के हृदय की तल्लीनता ही अनिवार्य है। सूर की भक्ति रागानुगा भक्ति ही थी, अतः उनका लौकिक बातों से उदासीन रहना स्वाभाविक ही था। हाँ, रागानुगा भक्ति की तल्लीनता उनमे अवश्य है। वे वास्तव में तल्लीनता की दृष्टि से भक्तराज हैं।

महात्मा सूरदास को इस प्रवृति का एक मुख्य कारण और भी है। परम्परा से कृष्ण-चरित्र एक निश्चित सीमा में बंधा चला आ रहा था। पहले से ही रीति-काव्य में हृदय की आवेशमयी भावनायें जयदेव और विद्यापति द्वारा अभिव्यक्त हो चुकी थीं। सूरदास ने भी 'सूरसागर' की रचना जयदेव और विद्यापति को रीति-काव्य-शैली पर ही की है। अतः इस दृष्टि से भी समाज की आवश्यकताओं का ध्यान सूर को नही रह सकता था। रीति-काव्य मे हृदय की कोमल भावनाओं का प्रगटीकरण होता, कठोर भावनाओं का नही।

आत्मा और परमात्मा

एक बात इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भक्ति के क्षेत्र में सदा इस बात की खोज होती रही है कि जीवात्मा का परमात्मा से क्या संबन्ध है? सब से पहले जीवात्मा और परमात्मा के इस संबंध की कल्पना दाम्पत्य रूप में की गई थी और आत्मा को स्वकीया माना गया था। कबीर इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। वे 'राम मोर प्रिय हौं राम की बहुरिया' सिद्धान्त को ही मानते थे। वे जीवात्मा को राम की स्वकीया पत्नी के रूप में देखते हैं। किन्तु स्वकीया पत्नी सहज लभ्य होती है। वह सुगमता से प्राप्त हो सकती है। सुगमता से किसी वस्तु का प्राप्त हो जाना अधिक आनन्ददायक नहीं होता। ईश्वर आराधना का मार्ग भी बड़ा ही कठिन होता है। सांसारिक वासनायें आकर्षण बन कर मार्ग में पर्वत के सदृश बाधा बन कर खड़ी हो जाती हैं जिससे ईश्वर की प्राप्ति अत्यन्त कठिन प्रतीत होने लगती है। अतः ईश्वर आराधना में स्वकीया वाला मत उचित नहीं जान पड़ा। इसीलिए ईश्वर और जीवात्मा के सम्बन्ध में परकीया सम्बन्ध की कल्पना का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार के प्रेम में एक ओर तो अनेक बाधायें होती हैं और दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता भी कुछ अधिक होती है।

ईश्वर और जीवात्मा के सम्बन्ध में यह रूपक भक्तों को कुछ अधिक अच्छा लगा और परिणामतः भक्ति के क्षेत्र में अधिक लोकप्रिय हो गया। स्वकीया का आदर्श उसके समान नहीं टिक सका, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि परकीया का भाव एक समाज-विरोधी तत्व है। समाज की मर्यादा को इससे ठेस पहुँचती है। समाज में इससे अव्यवस्था प्रसार होता है और अना-चार आदि की वृद्धि की सम्भावना अधिक हो जाती है। स्वकीया और परकीया भावना का अन्तर है राम-भक्त कवियों और कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति का अन्तर। रामभक्त कवि तुलसी स्वकीया भावना में विश्वास करते थे किन्तु कृष्ण-भक्त कवियों ने इस भाव को नहीं अपनाया। उन्होंने अपने प्रेम का प्रतीक राधा को रखा जो परकीया नारी थी। प्रत्येक कृष्ण-भक्त कवि अपने

को राधा समझ कर अपने हृदय की वेदना कृष्ण के प्रति व्यक्त करता था। ...तिकाल में आकर तो कृष्ण और राधा एक साधारण नायक और नायिका ...गये और इस प्रवृत्ति की जो प्रतिक्रिया हुई उससे एकदम शृंगार रस विकता के धरातल पर छा गया। किन्तु तुलसी के सीता और राम की ओर ...वित्र देखने का साहस किसी को नहीं हुआ क्योंकि उसमें स्वकीया भाव ...। सीता मर्यादा पुरुषोत्तम राम की धर्मपत्नी थीं, राधा की भाँति कोई ...कीया स्त्री नहीं। महात्मा सूरदास परकीया भाव से ही ईश्वर और जीवात्मा के संबन्ध को मानते थे। अतः उसमें समाज-विरोधी तत्वों का समावेश स्वाभाविक रूप से हो गया था।

कृष्ण-भक्ति की परम्परा

सूरदास जी कृष्ण-भक्ति की जिस परम्परा में अवतीर्ण हुए थे, उस पर कुछ प्रकाश डालने से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। जयदेव और विद्यापति के काव्यों का अनुशीलन इस विषय में बहुत उपयोगी होगा। ये दोनों ही कृष्ण-भक्त कवि थे। वैसे वे शृंगारी कवि के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं, किन्तु उन्हें शृंगारी मानना अनुचित है। वे तो माधुर्य भाव के उपासक थे और माधुर्य भाव की भक्ति में प्रेम का नग्न-चित्रण आ जाना स्वाभाविक सी बात है। प्रेम के आवेश में यदि लोक की सीमायें बाधायें बन कर खड़ी रहीं तो फिर वह प्रेमावेश ही कैसा? अतः उक्त दोनों कवियों का शृंगार रस भक्ति समन्वित ही माना जायगा। उसे रीतिकालीन शृंगार-रस मानना नितान्त अनुचित है, किन्तु एक बात से हम अवश्य सहमत हैं कि माधुर्य भाव की इस उपासना में सदाचार की मात्रा समाज की दृष्टि से बहुत कम है। विचारणीय बात तो यही है कि माधुर्य भाव की इस उपासना ने समाज पर क्या प्रभाव डाला? पीछे रीतिकालीन नग्न शृंगार के चित्रण का जो संकेत दिया गया है उसी से समाज पर इसके अनुचित प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। रीतिकालीन कवि ही क्यों, जयदेव और विद्यापति के काव्यों में भी शृंगार रस के ऐसे चित्रण विद्यमान हैं जिनका प्रभाव समाज

पर अच्छा नहीं पड़ सकता। साधारण जनता उस उच्च भावस्थल पर नहीं पहुँच सकती है जिस पर कि ये भक्त कवि पहुँचे हुए थे। इन दोनों कवियों की राधा कृष्ण भक्ति के विषय में डा० रामकुमार वर्मा का मत प्रस्तुत करना अनुपयोगी नहीं होगा।

"गीत गोविंद में जयदेव ने राधा और कृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर लीलायें और प्रेम की मादक अनुभूति सरस और मधुर शब्दावली में लिखी है। गीत गोविंद के द्वारा राधा का व्यक्तित्व पहली बार मधुर और प्रेमपूर्ण बनाकर साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। गीत-गोविंद की पदावली मधुर है। उसमें कामदेव के बाणों की मीठी पीड़ा है।"

"विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। वे एक कल्पित राज्य में विहार करते हैं, वे अपनी कल्पना के सौन्दर्य में ऐसे डूब गये हैं कि किसी दूसरी ओर दृष्टि भी नहीं जाती। विद्यापति की राधा प्रेम करती है इसलिए कि वह स्त्री है और स्त्रियाँ प्रेम करना जानती हैं। राधा प्रेम करती है इसलिए कि कृष्ण सुन्दर हैं और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है। पर ऐसे प्रेम में एक दोष आ गया है और वह यह है कि ऐसे प्रेम में सदाचार की मात्रा कम है।"

विद्यापति के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे जहाँ यह प्रमाणित होता है कि उनके चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक हैं, वहाँ साथ ही यह भी संकेत मिल जाता है कि उनमें समाज-विरोधी भावना भी विद्यमान है। उन्होंने प्रेम के चित्रणों में समाज की आवश्यकताओं का ध्यान बिल्कुल नहीं रखा है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि महात्मा सूरदास जिस कृष्ण-भक्त परम्परा में अवतीर्ण हुए थे वह समाज विरोधी ही थी। इस भक्ति की शृंगारभरी परम्परा का सूर पर अवश्य ही प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त उनके गुरु श्री वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्त भी माधुर्य भाव के [illegible] थे। इन दोनों कारणों से सूर के पदों में भी समाज की आवश्यकता का

ध्यान नहीं रखा गया है। उन्होंने श्री आचार्य जी के आदेशानुसार श्रीकृष्ण के बाल एवं युवा रूप को ही ग्रहण किया। बाल-वर्णन में तो सामाजिकता की कोई ऐसी बात हो ही नहीं सकती, संयोग एवं वियोग के चित्रों में इसकी कुछ परख हो सकती है। उन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के मधुरतम चित्र उतारे हैं। 'सूरसागर' की कुछ पंक्तियाँ तो इस बात को स्पष्टतः प्रमाणित करती हैं कि उन्हें प्रेम के आवेश में समाज की आवश्यकताओं का बिल्कुल ध्यान नहीं रहा। निम्न पंक्तियाँ देखिये और विचार कीजिये कि इनका समाज पर कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा—

"नीबी ललित गही यदुराई।
जबहिं सरोज धर्‌यो श्रीफल पर तब यशुमति तँह आई॥"

तथा

"झूंठे मोहि लगावत ग्वारी।
अपने कुच मेर कर धारति आपुहि चोली फारी॥"

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत इस विषय में अपना एक विशेष महत्व रखता है—

"कृष्ण भक्ति परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को लेकर प्रेमतत्व को बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है। लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्ण भक्तों के छवि-प्रमोन्मत्त गोपियों से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं। बड़े बड़े भूपालों के बीच लोक व्यवस्था करते हुए द्वारिका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर यह भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालम्ब के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेम-लोक में फूला-फूला फिरता है। अतः इन कृष्ण भक्त कवियों के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे। तुलसीदास जी के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत प्रेम की पुष्टि

के लिए जिस मधुरतामयी लोकोत्तर सरस और मार्मिक ढंग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को प्रभावित किया उनकी लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले चित्त-आलम्बन पूर्ण भक्ति, पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इनकी ओर इनका ध्यान न था। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।''

काल्पनिक संसार

वास्तव में सूर को समाज की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनके काव्य में दीनता, आत्म-समर्पण, विरतिन आदि की भावना ही अपने पूर्ण, विकसित रूप में प्राप्त होती है और स्पष्ट है कि समाज की आवश्यकताओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सूर तो ऐसे काल्पनिक संसार में विहार करते रहते थे जिसमें वृन्दावन के राधा-कृष्ण, गोप गोपी तथा नंद यशोदा ही थे, और कोई नहीं था। उनके अपने इस संसार की परिस्थितियाँ एवं आवश्यकतायें कुछ अलग ही थी। उनको इस समाज से वास्तव में कोई सरोकार ही नहीं था। चाहे इस समाज का उत्थान हो और चाहे पतन, उन्हें इस बात से क्या प्रयोजन? वे तो दिन-रात कृष्ण-प्रेम में मस्त रहने वाले कवि थे। उनके काव्य में 'रामचरितमानस' जैसे नीति के वचन नहीं मिल सकते। उनके काव्य में तो केवल कृष्ण ही क्रीड़ा करते दिखाई देंगे। कभी वे आप को खिलखिलाते हुए दिखाई देंगे तो कभी माखन-रोटी के लिए मचलते हुए। कभी माखन-चुराते हुए आपका मन हर लेंगे तो कभी मटकी फोड़ते हुए। सूर का मन कृष्ण की लीलाओं में ही रमा हुआ है। वे कभी कृष्ण के लिए यशोदा बन जाते हैं और कभी राधा। उन्हें तो कृष्ण के रूप का पान करना है, चाहे संसार कहीं जाये। संसार में कृष्ण से अधिक सुन्दर उनके लिए कुछ है ही नहीं। वे सारे संसार को कृष्ण के मुख-सौन्दर्य पर न्यौछावर कर सकते हैं। अनन्त सौन्दर्य युक्त तथा अनन्त शक्ति-शाली कृष्ण के निकट बैठकर विषमताओं और कुरूपताओं से भरे हुए इस

संसार को देखने का अवकाश उस भक्तराज के पास भला कहाँ ? 'सूरसागर' के पदों में कोई भी पद ऐसा नहीं है जिसमें उनकी लोक के प्रति उदासीनता प्रकट न हो। हमारा विचार है कि सूर ने पद-रचना करते समय इस बात की कल्पना भी न की होगी कि उनके इस शृंगार वर्णन का समाज पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? संभवतः उनके मस्तिष्क में कभी यह बात आई ही न होगी कि मैं अपनी रचनाओं द्वारा समय और समाज की आवश्यकताओं को वाणी दे सकता हूँ। यदि ऐसा होता तो सम्भवतः वे समाज के प्रति इतने उदासीन न रहते।

सूरदास जी ने प्रेम की तल्लीनता की अभिव्यक्ति मे समाज की मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं रखा था। यदि उन्हें समाज की मर्यादा का तनिक भी ध्यान होता, समाज से उन्हें कुछ भी प्रयोजन होता तो वे बाँसुरी की ध्वनि सुन कर अपने पति, पुत्र, ससुर, ननद, आदि को छोड़ कर कृष्ण के पीछे गोपियों का भागना चित्रित नहीं करते। विचार कर देखिये, भागती हुई गोपियों के चित्रण को पढ़ कर साधारण समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्या साधारण समाज उस प्रेम की भावना को अपने हृदय में धारण कर सकता है जो गोपियों के हृदय में थी ? क्या गोपियों के सच्चे भाव को यह अशिक्षित एवं विषय-वासनाओं मे फंसा समाज समझ सकता है ? इसी प्रकार गोपियों द्वारा कृष्ण के अधर-पान की इच्छा तथा मुरली के प्रति आक्रोश आदि का चित्रण क्या समाज पर अच्छा प्रभाव डाल सकता है ? निश्चित है कि सूर का साहित्य समाज की आवश्यकताओं की दृष्टि से अपना कोई महत्व नहीं रखता।

एक बात अवश्य है कि समाज के वैभव और विषमताओं से विरक्त इस महाकवि ने भावावेश मे जो कुछ लिखा है, वह निस्सन्देह साहित्य की अमर सम्पत्ति है। उन्होंने प्रेम के जो विविध चित्र उतारे हैं वे इतने सजीव हैं कि पाठक को अपने इसी जीवन के से प्रतीत होते हैं। सूर के पदों ने इसीलिए लोक-प्रियता भी बहुत पाई है। यही लोक-प्रियता तो भय का कारण है। यही कारण है कि समाज पर इनका प्रभाव अधिक पड़ा है। वे राधा और

कृष्ण जो सूर की दृष्टि में परम पवित्र थे, अलौकिक थे, कुछ
रीतिकाल में साधारण नायक नायिका ही रह गये। वह शृं
जो सूर ने भक्ति समन्वित कर रखा था, कुछ दिन बाद सड़ने लगा।
सड़न से सारा परवर्ती साहित्य दूषित हो गया। यह रीतिकालीन सा
जाना जा सकता है। सूर तो वास्तव में भक्त थे, भक्तराज थे और उ
कुछ अलौकिक समझ कर रचा था, किन्तु उनके परवर्ती कवियों ने
लौकिक बना दिया और समाज को अवनति के गर्त की ओर धकेल
इसके लिए रीतिकालीन साहित्य पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं कहा जा
क्योंकि उस समय के साहित्यकारों को प्रेरणा कृष्ण-भक्त कवियों के
ही प्राप्त हुई थी।

अतः निश्चित है कि सूर ने समाज की मर्यादाओं एवं आवश्यकता
ध्यान तनिक भी नहीं रखा। वे तो भक्त कवि थे और उन्होंने प्रेमावेश
सब कुछ लिखा था। वे भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुँच गये थे कि
समाज की आवश्यकताओं का तनिक भी ध्यान नहीं रहा।

**प्रश्न ११—दृष्टकूट से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? सूर ने दृ
का उपयोग क्यों किया है? उनके दृष्टकूटों की आलोचना कीजिये।**

दृष्टकूट को पूर्ण रूप में समझने के लिये सर्वप्रथम उसका शाब्दि
स्पष्ट हो जाना आवश्यक सा प्रतीत होता है। यह शब्द दो शब्दों से
कर बना है—दृष्ट+कूट=दृष्टकूट। दृष्ट का अर्थ है देखने की शक्ति
कूट का अर्थ है पहाड़ अथवा छल। अतः इसका शाब्दिक अर्थ हुआ दृ
आगे पहाड़ आ जाना अथवा दृष्टि को छल लेना। इस प्रकार यह रचन
मनुष्यों की समझ के मार्ग में पर्वत की भाँति बाधा बन जाये अथवा अ
गम्भीरता की दृष्टि से मनुष्य की बुद्धि को छल ले, वह दृष्टिकूट कहलाती
'हिन्दी शब्द सागर' में जो हिन्दी का सर्वाधिक प्रामाणिक कोश माना जा
इसका अर्थ लिखा है कि 'कोई ऐसी कविता जिसका अर्थ कविता के शब
से न समझा जा सके, वरन् प्रसंग और रूढ़ि अर्थों से जाना जाये।'

परिभाषा

इस से स्पष्ट है कि दृष्टकूट ऐसी कविता को कहते हैं जिसका अर्थ साधारण रूप में न समझा जा सके। वास्तव में दृष्टकूट के विषय में विद्वानों के अनेक विचार पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार दृष्टिकूट एक अलंकार मात्र ही है, किन्तु हमारी दृष्टि में दृष्टकूट को केवल अलकार कहना तर्कसंगत नहीं है। अलंकार तो काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को कहा जाता है। दृष्टकूट से काव्य की शोभा अलंकारों की भाँति कैसे बढ़ सकती है? यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो दृष्टकूट तो शब्दमात्र के पचड़े मे फंस कर काव्य सौंदर्य को और उल्टा नष्ट करते हैं। अलंकार तो दृष्टकूट वर्णन में कुछ सहायता पहुंचाते हैं। अतः दृष्टकूट को अलंकार कहना उपयुक्त नहीं जान पड़ता। सभी दृष्टियों से यही जान पड़ता है कि दृष्टकूट एक ऐसी कविता है जिसका अर्थ साधारणतया समझ मे न आवे।

प्रयोग

अब प्रश्न यह है कि महात्मा सूरदास ने दृष्टकूटों का प्रयोग किस उद्देश्य को लेकर किया है। जब उन्होंने सहस्त्रों पद सीधे-सादे सरल भाषा में रचे थे तो इस प्रकार के पद जिनका अर्थ समझने में पाठकों को कठिनाई हो, उन्होंने क्यों रचे? भारत भूमि प्राचीन काल से ही महर्षियों की तपोभूमि रही है। सम्भवतः ऋषियों का यह ध्यान रहा था कि जिस ज्ञान को उन्होंने अत्यन्त कष्ट उठाकर प्राप्त किया है, वह ज्ञान उपयुक्त पात्र को ही प्राप्त हो सके, इसलिये गूढ ज्ञान को कुछ रहस्यात्मकता के साथ स्पष्ट किया जाये। दूसरे, उनका ध्यान यह भी था कि यदि ज्ञान और साधना इतने सरल हो गये कि प्रत्येक साधारण जन उन्हें ग्रहण करने लगा तो निश्चय रूप से उसमें विकार उत्पन्न हो जायेंगे। इस प्रकार की भावना भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रख कर सूरदास ने दृष्टिकूटों की रचना की थी।

इतिहास

दृष्टकूटों के इतिहास पर एक सक्षेपात्मक दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। इनका प्रयोग कहाँ से किस प्रकार प्रारम्भ हुआ, यदि हम इस बात पर विचार करने का प्रयास करें तो हमें कहना पड़ेगा कि इनका प्रारम्भ प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद से ही हो गया था। ऋग्वेद में अनेक ऐसी उक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं जिनको समझने के लिए एक विशेष बुद्धि कौशल एवं परिश्रम की आवश्यकता है। इसके पश्चात् दृष्टकूटों की यह प्रथा निरन्तर चलती रही है। उपनिषदों में भी अनेक ऐसे उल्लेख प्राप्त हो जाते हैं जिन्हें वाच्यार्थ के अनुसार समझना टेढ़ी खीर है। भारत के महानतम ग्रंथ 'गीता' में भी कुछ ऐसे श्लोक प्राप्त हो जाते हैं जिनका कूट अर्थ है; अर्थात् साधारण दृष्टि से समझ में नहीं आता। इस प्रकार का एक श्लोक यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक नहीं होगा—

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखामश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेदं स वेदवित्॥"

अर्थ—जिसका ऊर्ध्व (ब्रह्म) मूल है, जिसकी अधः (नीचे) महद् आदि वस्तुएं शाखा हैं, वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे पीपल के वृक्ष को (क्षण भंगुर संसार को) नाश रहित करते हैं, परन्तु उस प्रकार के संसार रूपी वृक्ष को जो पुरुष जानते हैं वे ही वेदों को जानते हैं।

इसी प्रकार महाभारत और श्रीमद्भागवत में अनेक कूट देखने में आते हैं। संस्कृत के कवियों ने भी इन धर्म-ग्रंथों से प्रेरणा पाकर यत्र-तत्र दृष्टिकूट दिये हैं। इस प्रकार के संस्कृत के कवियों में संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास और माघ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिन्दी में इस प्रकार की प्रवृति का परिचय हमें सिद्धों की कविताओं से प्राप्त हो सकता है। कबीर पंथियों ने भी साधना द्वारा प्राप्त ज्ञान को छिपाने के हेतु कूट पद कहे हैं। कबीर की उलटबासियाँ कुछ ऐसी ही समझनी

चाहियें। हठयोग के सिद्धान्तों को कबीर ने इन उलटबासियों में इस प्रकार रखा है कि इनका समझना विद्वानों की ही बात रह गई है। जन साधारण इन्हें नहीं समझ सकता। इन्हें समझने के लिए एक विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की आवश्यकता है, किन्तु उलटबासियाँ निश्चित रूप से शास्त्रीय दृष्टि से दृष्टकूट नहीं कही जा सकतीं। इसी प्रकार अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ हैं जो दृष्टकूट की भावनाओं की द्योतक हैं, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें भी दृष्टिकूट नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के कवियों में जहाँ तक इनके सर्वप्रथम प्रयोग की बात है, वहाँ विद्यापति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके कुछ उदाहरण देखिये—

"हरिसम आनन हरिसम लोचन हरितह हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि-हरि न सोहावए हरि-हरि कए उठि जागी॥"
× × ×
"सारंग नयन बयन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग केलि करथि मधुपाने॥"

विद्यापति के इन उदाहरणों को प्रस्तुत करने का विशेष ध्येय यह बताना है कि हिन्दी में सूरदास के समय तक कूट पदों का प्रचार हो चुका था। यदि सूर ने भक्ति-पद्धति की ओर दृष्टि डाली होगी तो एक ओर तो वे महाभारत और श्रीमद्भागवत के कूटों से प्रभावित हुए होंगे और दूसरी ओर विद्यापति की शृंगारमय रहस्यात्मक कूट उक्तियों ने उन पर प्रभाव डाला होगा। निश्चय है कि 'सूरसागर' का आधार श्रीमद्भागवत है। यह भी निश्चय है कि सूर की रचना-शैली जयदेव और विद्यापति से प्रभावित है। कहने का तात्पर्य यह है कि सूर कूट-पद्धति से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने इनकी रचना करके किसी नवीन शैली को जन्म नहीं दिया। हिन्दी में इनसे पूर्व भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी।

सूर के दृष्टिकूट इन कवियों से अधिक सुन्दर बन पड़े हैं और संख्या की

दृष्टि से भी पर्याप्त कहे जा सकते हैं, किन्तु दृष्टिकूटों के इतिहास से सम्बन्धित एक बात अवश्य हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि सूर के बाद के कवि इस प्रवृति की ओर अधिक न चल सके। दृष्टिकूट के कुछ उदाहरण चाहे आप तुलसीदास की रचनाओं में भले ही पा लें, किन्तु भक्तिकाल के कवियों के पश्चात् तो दृष्टिकूट रचे ही नहीं गये। इसका एकमात्र कारण यह रहा है कि उनके पास कुछ इस प्रकार की गोपनीय अथवा गुप्त वस्तु ही नहीं थी। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साहित्यमर्मज्ञ इस प्रकार की रचनाओं का कुछ आदर भी नहीं कर सकते थे। इस प्रकार दृष्टिकूटों की रचना ने सूर के द्वारा ही कुछ विस्तार पाया और सूर के साथ ही लगभग समाप्त हो गई।

दृष्टिकूटों के भेद

यद्यपि दृष्टिकूटों के भेद उपस्थित करने के लिए शास्त्रीय सिद्धान्तों का नितान्त अभाव है, किन्तु तो भी श्री मुन्नीलाल 'शेष' ने इस ओर कुछ ध्यान दिया है। श्री शेषजी दृष्टिकूटों के तीन भेद करते हैं—

१. कथात्मक दृष्टिकूट।
२. अलंकारिक दृष्टिकूट।
३. ध्वनि परिवर्तक दृष्टिकूट।

कथात्मक दृष्टिकूट

कथात्मक दृष्टिकूटों में दो प्रकार की कथाएँ होती हैं। एक कथायें तो वे जो इतिहास और पुराणों से ली जाती हैं। दूसरी कथाएँ वे होती हैं जो जनसाधारण में प्रचलित होती हैं। जन साधारण जिनका नित्यप्रति अनुभव कर सकता है। 'सूरसागर' के पदों में दोनों ही प्रकार के दृष्टिकूट मिल जाते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकूटों में शब्द को इस प्रकार से रखा जाता है कि अर्थ और अनुमान लगाते लगाते इष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाती है। जैसे— सभी जानते हैं कि कुम्भकरण को नींद बहुत प्यारी थी। कवि कहना चाहता

है कि उसे नींद नहीं आती है तो वह इस इष्ट अर्थ की व्यंजना के लिए यह पंक्ति लिखता है—

"कंचन-पुर पति को जो भ्राता तासु प्रिया नहिं आवै।"

यह कंचन का अर्थ है सोना, पुर का अर्थ है नगर, कंचनपुर का अर्थ हुआ सोने का नगर अर्थात् लंका, पति का अर्थ है राजा, लंका का राजा कौन अर्थात् रावण, और उसका भाई कौन कुम्भकरण, उसकी प्रिया कौन अर्थात् नींद। इस प्रकार यह अर्थ निकला कि नींद नहीं आती।

इसी प्रकार पौराणिक कथाओं के आश्रय से अर्थ निकलने वाला सूर का यह पद देखिये—

"राधे मान मनायौ मेरौ।
रवि-सारथी सहोदर कौ पति मारग देखत तेरौ।
मारुत-सुत-पति अरि-पति रिपुदल दियौ आन तहं घेरौ॥"

यहाँ 'रवि-सारथी-सहोदर कौ पति' तथा 'मारुत-सुत-पति-अरि-पति-रिपुदल' शब्द दर्शनीय हैं। सूर्य का सारथी अरुण, उसका सहोदर गरुड तथा उसका पति विष्णु अर्थात् कृष्ण। इस प्रकार 'रवि सारथी सहोदर को पति' का अर्थ हुआ कृष्ण। मारुत सुत=हनुमान। हनुमान का पति राम। राम का अरि अर्थात् शत्रु=रावण, रावण का पति=शिव। शिव का रिपु=कामदेव। इस प्रकार 'मारुत-सुत-पति-अरि-पति-रिपुदल' का अर्थ हुआ कामदेव का दल। स्पष्ट होकर अर्थ यह निकला कि कि हे राधे! तू मेरा कहना मान ले क्योंकि कृष्ण तेरी बाट देख रहे हैं। उनके चारों ओर कामदेव के दल ने घेरा डाल रखा है।

अब तनिक सूर का एक ऐसा दृष्टिकूट देखिये जिसका अर्थ लोक प्रचलित कथाओं द्वारा निकाला जा सकता है—

"सारंग-सुत-पति-तनया के तट ठाढ़े नन्द कुमार।
बहुत तपत जा रासि में सविता, ता तनया संग करत बिहार॥"

अर्थ—सारंग=जल। जल का सुत=कमल। कमल पति=सूर्य। सूर्य की तनया=यमुना। अर्थात् यमुना के तट पर श्रीकृष्ण जी खड़े हैं। जिस राशि में सूर्य बहुत तपता है, वह है वृषभ। वृषभ की तनया=राधा। अर्थात् राधा के साथ विहार कर रहे हैं। पूरा अर्थ यह हुआ कि यमुना के किनारे श्रीकृष्ण खड़े हैं और राधा के साथ विहार कर रहे हैं। यह एक लोक प्रचलित बात है।

अलंकारिक दृष्टिकूट

श्री 'शेष' जी के अनुसार दूसरे प्रकार के दृष्टिकूट हैं चमत्कारिक दृष्टिकूट। इस प्रकार के दृष्टिकूटों में अलंकारों की सहायता से अर्थ को गोपनीय बनाया जाता है। इस कार्य के लिये दोनों प्रकार के अलंकार—शब्दालंकार और अर्थालंकार—प्रयोग में लाये जाते हैं। शब्दालंकारों में यमक और श्लेष विशेष रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं। अर्थालंकारों में रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग विशेष रूप से पाया जाता है। इस प्रकार का एक उदाहरण 'सूरसागर' में देखिये—

> "अद्भुत एक अनुपम बाग।
> जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंघ करत अनुराग॥
> हरि पर सरवर, सरवर गिरिवर, गिर पर फूले कंज पराग।
> रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
> फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक-पिक मृग मद काग।
> खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥"

कृष्ण के समक्ष एक सखी राधा के नखशिख का वर्णन कर रही है। इसके अर्थ से स्पष्ट हो जायगा कि इसमें रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेकर अत्यन्त सुन्दर ढंग से काव्य सौन्दर्य का प्रतिपादन हुआ है।

प्रतीकों का अर्थ—गज क्रीडा=चाल, सरवर=नाभि, गिरिवर=कुच, कपोत=कंठ, अमृत फल=मुख, पुहुप=ठोढी, पल्लव=ओष्ठ,

शुक=नासिका, पिक=स्वर, खंजन=नेत्र, धनुष=भौंह, चन्द्रमा=मस्तक, मणिधर नाग=सिन्दूर बिन्दु के ऊपर की लट।

भावार्थ—राधा के शरीर का सौन्दर्य एक विचित्र बाग की भांति है। उसके शरीर के अन्तर्गत दो चरण कमलों के ऊपर गज की सूंड के समान कोमल जघायें हैं। उनके ऊपर सिंह के समान कटि है। कटि के ऊपर नाभि और उसके ऊपर वक्ष और वक्ष पर दो कुच हैं। उसके ऊपर कबूतर के समान कोमल और पतली सी गर्दन है तथा गर्दन के ऊपर ठोडी है। उसके ऊपर मुख और उस पर पल्लव अर्थात् ओंठ हैं। उस पर शुक के समान नासिका है और पिक के समान उसका मधुर स्वर है। खंजन पक्षी के समान उसकी आँखें तथा धनुष के समान उसकी भौंहें हैं। चन्द्रमा के समान चमकता हुआ मस्तक है और उसके ऊपर बिन्दी है। इस प्रकार चतुर सखी कृष्ण के सम्मुख राधा का सौंदर्य का वर्णन करके उन्हें अधरामृत पान करने की प्रेरणा देती है।

अब एक उदाहरण ऐसा देखिये जिसमे शब्दालंकार यमक की सहायता से अर्थ को सूरदास जी ने गुह्य बनाया है—

"सारंग सम करनीक-नीक सम सारंग सरस बखाने।
सारग बस भय, भय बस सारग, सारंग विसमय माने॥
सारंग हेरत उर सारंग सारंग सुत ढिग आवैं।
कुन्ती सुत सुभास चित सभुभत सारंग जाइ मिलावै॥
यह अद्भुत कहिबे न जोग जग देखत ही बनि आवं।'
सूरदास बिध समें समुझ करि विधई विधै मिलावं।"

इसमे 'सारंग' शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे हरित, राग, सारग, कृष्ण, कमल, हृदय आदि।

ध्वनि-परिवर्तक दृष्टिकूट

तीसरे प्रकार के दृष्टिकूट हैं ध्वनि परिवर्तक दृष्टिकूट। इस प्रकार के दृष्टकूट में शब्दों के द्वारा अर्थ के मर्म को समझ लेने से ही कार्य नहीं चल सकता। उसमें यह भी आवश्यक है कि अपने अर्थ निकाले हुए शब्द के समान

ही ध्वनि वाला कोई शब्द खोजा जाय और तब उस खोजे हुए शब्द के द्वारा इष्ट अर्थ की प्राप्ति का प्रयास किया जाय। इस प्रकार का 'सूर सागर' का एक बहुत सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है—

"कहत कत परदेशी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हम सौं, हरि अहार चलि जात।।
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुगवर हरि कीन्हो घात।
मघ पंचम लै गयौ सांवरो, तातें अति अकुलात।।
नखत वेद ग्रह जोरि अर्घ करि, सोइ बनत अन खात।
सूरदास बस भई बिरह के, कर मीजैं पछितात।।

शब्दार्थ—मन्दिर=घर। अरध=आधा। मन्दिर अरध=घर का आधा पख अर्थात पन्द्रह दिन। हरि-अहार=सिंह का भोजन। मांस=मास (महीना)। ससि रिपु=चन्द्रमा का शत्रु अर्थात दिन। सूर-रिपु=सूर्य का शत्रु अर्थात रात। जुग=युग। हर-रिपु=कामदेव। मघा पंचम=मघा नक्षत्र से पाँचवा नक्षत्र अर्थात चित्रा=चित्त। नखत वेद ग्रह जोरि अर्घ करि= नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ६, इनका योग=४० इसका आधा=२० बीस=विष (ध्वनि परिवर्तन के द्वारा)

अर्थ—उस परदेसी की बात क्या कहती हो ? वह हमसे पन्द्रह दिन की अवधि तक वापिस आने का वचन दे गया था और अब पूरा एक माह हो चुका। अतः हमें दिन एक वर्ष के समान और रात्रि एक युग के समान प्रतीत हो रही है। कामदेव हम पर घात लगाये हुए है और श्रीकृष्ण हमारा चित्त लेकर वहाँ जा बैठे हैं अतः हम बहुत व्याकुल हैं। अब हम विष खाने को तैयार हो गई है। इस प्रकार सूरदास जी कहते हैं कि गोपियाँ विरह के वशीभूत होकर हाथ मलमल कर पश्चात्ताप कर रही हैं।

.. की दृष्टि से सूरदास के दृष्टिकूटों पर यदि विचार किया जाय

तो ज्ञात होता है कि 'सूरसागर' के अधिकांश दृष्टिकूट शृंगार रस के वर्णनों से ही सम्बन्धित हैं। बाल-लीला से सम्बन्धित पद तो केवल चार हैं। विनय के पदों मे केवल एक दृष्टिकूट ही पाया जाता है। शृंगार के अधिकांश दृष्टिकूटो मे कुछ मनुष्यों की वासना की दुर्गन्ध आ सकती है, क्योकि भक्तराज सूरदास ने राधा और कृष्ण के सुरति तक के चित्र उतार डाले हैं, किन्तु इस विषय में प्रथम निवेदन तो हमारा यह है कि वे सूरदास की भक्ति की सीमा को पहचानें। सूरदास जी कृष्ण के सच्चे भक्त हैं। राधा को वे उनकी पत्नी रूप में मानते हैं। दूसरे, उनकी भक्ति सरस भाव की है जिससे वे कृष्ण का कोई भी स्थान अपने से छिपा हुआ नही मानते हैं। हमारी दृष्टि मे तो उन आलोचको को जिन्हें सूर के सयोग और वियोग के वर्णनों में वासना की दुर्गन्ध आती है, उन्हें अपने ही भावों को उच्च बनाना चाहिये। पहले वे सूर के समान अपना हृदय निर्मल बना लें। ऐसा करने पर हमारा विचार है कि उन्हे वासना की दुर्गन्ध नही आ सकती। वास्तव मे सूर का शृंगार वर्णन साधारण समाज की वस्तु नही है। हो सकता है कि उसका समाज पर कुप्रभाव पड़े। सम्भवतः इसीलिए सूर ने शृंगार के ऐसे अधिकांश पदों को दृष्टिकूटों के रूप में रचा है।

दृष्टिकूट रचना कोई साधारण कार्य नही है। इसके लिए कवि को विविध विषय जैसे इतिहास, पुराण तथा प्रचलित लौकिक कथाओ का ज्ञान होना आवश्यक है। साथ ही इसकी रचना के लिए कवि का शब्द-भडार भी अत्यन्त विशाल होना चाहिये। महाकवि सूरदास में ये सभी गुण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थे। उनके दृष्टिकूटों का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे इतिहास, पुराण, लोक प्रचलित कथाओं का ज्ञान तो था ही, साथ ही भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था। पीछे के एक उदाहरण मे 'सारंग' शब्द का प्रयोग देखकर ... हो सकता है जो उनके भाषाधिकार की प्रशंसा न ... शब्दो के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे ... अधिकार प्रमाणित

ही ध्वनि वाला कोई शब्द खोजा जाय और तब उस खोजे हुए शब्द के द्वारा इष्ट अर्थ की प्राप्ति का प्रयास किया जाय। इस प्रकार का 'सूर सागर' का एक बहुत सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है—

"कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हम सौं, हरि अहार चलि जात।।
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुगवर हरि कीन्हो घात।
मघ पंचम लै गयो सांवरो, तातें अति अकुलात।।
नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भई बिरह के, कर मीजैं पछितात।।

शब्दार्थ—मन्दिर=घर। अरध=आधा। मन्दिर अरध=घर का आधा पाख अर्थात् पन्द्रह दिन। हरि-अहार=सिंह का भोजन। मांस=मास (महीना)। ससि रिपु=चन्द्रमा का शत्रु अर्थात् दिन। सूर-रिपु=सूर्य का शत्रु अर्थात् रात। जुग=युग। हर-रिपु=कामदेव। मघा पंचम=मघा नक्षत्र से पाँचवा नक्षत्र अर्थात् चित्रा=चित्त। नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि=नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ९, इनका योग=४० इसका आधा=२० बीस=विष (ध्वनि परिवर्तन के द्वारा)

अर्थ—उस परदेसी की बात क्या कहती हो? वह हमसे पन्द्रह दिन की अवधि तक वापिस आने का वचन दे गया था और अब पूरा एक माह हो चुका। अतः हमें दिन एक वर्ष के समान और रात्रि एक युग के समान प्रतीत हो रही है। कामदेव हम पर घात लगाये हुए है और श्रीकृष्ण हमारा चित्त लेकर वहाँ जा बैठे हैं अतः हम बहुत व्याकुल हैं। अब हम विष खाने को तैयार हो गई हैं। इस प्रकार सूरदास जी कहते हैं कि गोपियाँ विरह के वशीभूत होकर हाथ मलमल कर पश्चाताप कर रही हैं।

शृंगारिक दृष्टिकूट

विषय की दृष्टि से सूरदास के दृष्टिकूटों पर यदि विचार किया जाय

तो ज्ञात होता है कि 'सूरसागर' के अधिकांश दृष्टिकूट शृंगार रस के वर्णनों से ही सम्बन्धित हैं। बाल-लीला से सम्बन्धित पद तो केवल चार हैं। विनय के पदों में केवल एक दृष्टिकूट ही पाया जाता है। शृंगार के अधिकांश दृष्टिकूटों में कुछ मनुष्यों को वासना की दुर्गन्ध आ सकती है, क्योंकि भक्तराज सूरदास ने राधा और कृष्ण के सुरति तक के चित्र उतार डाले हैं, किन्तु इस विषय में प्रथम निवेदन तो हमारा यह है कि वे सूरदास की भक्ति की सीमा को पहचानें। सूरदास जी कृष्ण के सच्चे भक्त हैं। राधा को वे उनकी पत्नी रूप में मानते हैं। दूसरे, उनकी भक्ति सरस भाव की है जिससे वे कृष्ण का कोई भी स्थान अपने से छिपा हुआ नहीं मानते हैं। हमारी दृष्टि में तो उन आलोचकों को जिन्हें सूर के सयोग और वियोग के वर्णनों में वासना की दुर्गन्ध आती है, उन्हें अपने ही भावों को उच्च बनाना चाहिये। पहले वे सूर के समान अपना हृदय निर्मल बना लें। ऐसा करने पर हमारा विचार है कि उन्हें वासना की दुर्गन्ध नहीं आ सकती। वास्तव में सूर का शृंगार वर्णन साधारण समाज की वस्तु नहीं है। हो सकता है कि उसका समाज पर कुप्रभाव पड़े। सम्भवतः इसीलिए सूर ने शृंगार के ऐसे अधिकांश पदों को दृष्टिकूटों के रूप में रचा है।

दृष्टिकूट रचना कोई साधारण कार्य नहीं है। इसके लिए कवि को विविध विषय जैसे इतिहास, पुराण तथा प्रचलित लौकिक कथाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। साथ ही इसकी रचना के लिए कवि का शब्द-भंडार भी अत्यन्त विशाल होना चाहिये। महाकवि सूरदास में ये सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। उनके दृष्टिकूटों का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें इतिहास, पुराण, लोक प्रचलित कथाओं का ज्ञान तो था ही, साथ ही भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था। पीछे के एक उदाहरण में 'सारंग' शब्द का प्रयोग देखकर कौन ऐसा आलोचक हो सकता है जो उनके भाषाधिकार की प्रशंसा न करेगा? कितने ही ऐसे शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे सूर का भाषा पर असाधारण अधिकार प्रमाणित

ही अर्थात् मानो कोई शब्द खोया जाय और तब उस खोये हुए शब्द के द्वारा इष्ट अर्थ की प्राप्ति का प्रयास किया जाय। इस प्रकार का 'सूर सागर' का एक बहुत सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है—

"कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हम सों, हरि अहार चलि जात॥
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुगवर हरि कीन्हौ घात।
मघ पंचम लै गयौ सांवरौ, तातें अति अकुलात॥
नखत बेद ग्रह जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भई बिरह के, कर मीजैं पछितात॥

शब्दार्थ—मन्दिर=घर। अरध=आधा। मन्दिर अरध=घर का आधा पाख अर्थात् पन्द्रह दिन। हरि-अहार=सिंह का भोजन। माँस=मास (महीना)। ससि रिपु=चन्द्रमा का शत्रु अर्थात दिन। सूर-रिपु=सूर्य का शत्रु अर्थात रात। जुग=युग। हर-रिपु=कामदेव। मघा पंचम=मघा नक्षत्र से पाँचवाँ नक्षत्र अर्थात चित्रा=चित्त। नक्षत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि= नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ६, इनका योग=४० इसका आधा=२० बीस=विष (ध्वनि परिवर्तन के द्वारा)

अर्थ—उस परदेसी की बात क्या कहती हो? वह हमसे पन्द्रह दिन की अवधि तक वापिस आने का वचन दे गया था और अब पूरा एक माह हो चुका। अतः हमें दिन एक वर्ष के समान और रात्रि एक युग के समान प्रतीत हो रही है। कामदेव हम पर घात लगाये हुए है और श्रीकृष्ण हमारा चित्त लेकर वहाँ जा बैठे हैं अतः हम बहुत व्याकुल हैं। अब हम विष खाने को तैयार हो गई हैं। इस प्रकार सूरदास जी कहते हैं कि गोपियाँ विरह के वशीभूत होकर हाथ मलमल कर पश्चाताप कर रही हैं।

शृंगारिक दृष्टिकूट

विषय की दृष्टि से सूरदास के दृष्टिकूटों पर यदि विचार किया जाय

रहता है, तब तक दुःख की परिस्थिति मे भी आनन्द का स्वप्न-भंग नही होता। भावोद्रेक और कल्पना मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रसिद्ध काव्य-मीमासक 'जी-डब्लू-मैके' ने दोनों को एक कहना ही ठीक समझकर यहाँ तक कह डाला है कि कल्पना आनन्द है।

अलंकार-विधान

अलकार-विधान मे भी कल्पना कवि की बहुत सहायता करती है। जहाँ उसकी दृष्टि वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक्-पृथक् साम्य पर रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है। किन्तु जहाँ उसे व्यापार-समष्टि अथवा पूर्ण प्रसग की समानता प्रकट करनी होती है वहाँ वह दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का आश्रय लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत के मेल मे जो अप्रस्तुत रखा जाय वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक होना चाहिये। साथ ही उस अप्रस्तुत से भी उसी भाव का उद्रेक हो जिस भाव का प्रस्तुत से होता है।

उपयुक्त मापदड के आधार पर यदि सूर के काव्य का निरीक्षण किया जाय तो प्रश्नगत उक्ति अक्षरशः प्रमाणित हो जायगी। वास्तव मे सूर की कल्पना उच्चकोटि की भाव सृष्टि करने वाली है। अलकारों के संयोग से सूर का काव्य और भी आकर्षक हो उठा है। ठीक है कि सूरदास का काव्य भाव-प्रधान है। यह भी ठीक है कि रस-मीमासा की दृष्टि से 'सूरसागर' मौलिक सामग्री उपस्थित करता है जिसके आधार पर रस की नवीन विवेचना सम्भव हो सकती है, किन्तु साथ ही सूरदास के काव्यनुशीलन से इस बात मे भी कोई सन्देह नही रह जाता कि उनके काव्य का कलापक्ष भी उतना ही उत्कृष्ट है।

महाकवि सूरदास की कल्पना शक्ति और अलकार-विधान उनके सरस हृदय, मर्मज्ञता और सौन्दर्य-प्रियता के स्पष्ट प्रमाण हैं उन्होने अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति द्वारा ऐसे भाव-चित्र उपस्थित किये हैं जो साहित्य-जगत् में सदैव अमर रहेंगे। सूरदास ने रूप, वस्तु, क्रिया, गुण, स्वभाव और

हो जायगा । अलंकारों का भी सूर को पर्याप्त ज्ञान था । अनेक दृष्टिकूटों में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के सफल प्रयोग के सहारे उन्होंने अर्थ को गुह्य करके दिखा दिया है ।

अतः कहा जा सकता है कि सूर महाकवि थे । उन्हें दृष्टिकूट रचना में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है । उनके दृष्टिकूट हिन्दी साहित्य में अनुपमेय हैं।

प्रश्न १२—"सूर की कल्पना उच्चकोटि की भाव-सृष्टि करने वाली है और अलंकारों से सुसज्जित होकर वह और भी आकर्षक बन जाती है।' इस कथन की उदाहरण सहित पुष्टि कीजिये ।

भावोद्रेक और कल्पना में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—

"किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं ।"

वास्तव में शुक्ल जी का यह मत ठीक है । बिना किसी भाव में मग्न हुए कुछ का कुछ कहने लगना सच्चे कवि की कल्पना नहीं कही जा सकती । बात यह है कि हमें वास्तव के अतिरिक्त अथवा वास्तव के स्थान पर लाये गये रूपों के सबन्ध में यह देखना चाहिये कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सम्भालने वाले या बढ़ाने वाले होकर आ खड़े हुए हैं अथवा वैसे ही कोई तमाशा दिखाने अथवा कौतूहल उत्पन्न करने के हेतु बरबस वहाँ लाकर बैठा दिये गये हैं । यदि हमें ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेरक भाव का ज्ञान हो गया तो निश्चय है कि हमें कवि के हृदय का भी ज्ञान हो गया और यह भी पता लग गया कि वे रूप हृदय से ही प्रेरित हुए हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि कालरिज ने, जो कवि-कल्पना के अच्छे विवेचक माने जाते हैं, अपनी 'रिजेक्शन ओड' नामक कविता में इस रूपान्तरण को आनन्द-स्वरूप आत्मा से निःसृत कहा है । जब तक यह रूपान्तरण जीवन में साथ लगा चलता

उन्हें जैसा चाहती है, वैसा नाच नचाती है। निम्नलिखित पद इस विषय में बहुत प्रसिद्ध है—

> "मुरली तऊ गोपालहिं भावति !
> सुन री सखि ! जदपि नन्दनन्दहिं नाना भांति नचावति ॥
> राखति एक पांइ ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति ।
> कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति ॥
> अति अधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति ।
> आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर कर-पल्लव-सन पद पलुटावति ॥
> भृकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोप कृपावति ।
> सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डुलावति ॥

कृष्ण मुरली बजा रहे हैं। उन्हें देखकर गोपियों के मन में जो ईर्ष्या की भावना उठती है उसकी कल्पना सूर ने यहाँ तक की है, वह इस पद में दर्शनीय है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि मुरली ने कृष्ण को पूर्णतया अपने आधीन कर लिया है। वह उन्हें अपनी इच्छानुसार नाच नचा रही है। उन्हें उसने एक पाँव पर खड़ा कर रखा है। कृष्ण जी का क्या साहस जो उसकी आज्ञा के बिना एक पग भी इधर से उधर रख दें। वह कभी उन्हें गर्दन झुकाने की आज्ञा देती है और कभी कमर टेढ़ी करने की। इतना ही नहीं, वह कृष्ण के अधरों की शय्या बना कर लेट जाती है और कृष्ण को अपने पाँव दबाने की आज्ञा दे देती है। कृष्ण उसे मनाने के लिए उसके पाँव तक दाब देते हैं।

नेत्र-विषयक कल्पनाएँ

इसी प्रकार नयनों के सम्बन्ध में सूर ने अनेक कल्पनायें की हैं। वियोगिनी गोपियों के नयनों के वर्णन में कवि की कल्पना इस पद में दर्शनीय है—

> "सखि इन नैनन ते घन हारे ।
> बिनु ही ऋतु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ॥

भावचित्रण में जड़-प्रकृति मानवेतर सृष्टि, मानव-समाज और मानसिक भावों के विशाल जगत् में प्रवेश करके अपनी अनुपम कल्पना-शक्ति, अंतर्दृष्टि और अनुभव-गाम्भीर्य का परिचय दिया है। परिणाम यह हुआ है कि उनकी अभिव्यंजना अत्यन्त अलंकृत और सौष्ठव-सम्पन्न हो गई है। कुछ उदाहरणों द्वारा इसकी पुष्टि हो जायेगी।

विषयक कल्पनाएँ

भक्तराज सूरदास के नेत्रों के सामने कृष्ण का पीताम्बर और राधा की नीली साड़ी तो हर समय रहती है। राधा और कृष्ण दोनों के वस्त्रों के रंग तथा उनके शारीरिक रंगों के विषय में कवि को क्या कल्पना सूझती है, वह इन पंक्तियों में देखिये—

> "नीलाम्बर श्यामल तनु की छबि, तनु छबि पीत सुबास।
> घन भीतर दामिनी प्रकाशत दामिनी घन चहुँ पास॥"

इसका अर्थ स्पष्ट करने पर जहाँ सूर की अद्भुत कल्पना-शक्ति के दर्शन होंगे, वहाँ लुप्तोपमा अलंकार के संयोग से पंक्तियों मे जो आकर्षण उत्पन्न हुआ है, वह भी दर्शनीय है। इन पंक्तियों का अर्थ यह है कि राधा की नीली साड़ी के अन्दर उनका गौर वर्ण का शरीर तथा कृष्ण के श्यामल अंगों के ऊपर उनका पीताम्बर ऐसे प्रतीत होते है जैसे कि बादल के भीतर बिजली चमक रही हो और बिजली के भीतर बादल।

मुरली-विषयक कल्पनाएँ

कृष्ण की मुरली भी कृष्ण-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। सूर मुरली के विषय में जो कल्पनाएँ करते हैं उनको यहाँ उद्धृत करना परम उपयोगी होगा। मुरली गोपिकाओं से स्पर्धा करने वाली है। वह राधा की सपत्नी है। वह बडी सौभाग्यशालिनी है कि कृष्ण के अधर रस को पी रही है। मुरली सौत तो है ही, धृष्ट भी है। उसने कृष्ण को मोहित ही नहीं किया, उसने तो उनका सर्वस्व छीन लिया है। वह तो उन पर सवार रहती है।

इस पद मे कवि ने लोचनों को भृङ्ग के रूप में चित्रित किया है। एक सखी जो कृष्ण की छवि पर मुग्ध है यह दूसरी सखी से कह रही है कि ऐ सखि। मेरे नेत्र तो भौरे बन गये हैं। लोक-लाजरूपी वन की अधिक बेलों को छोडकर तथा व्याकुल होकर कृष्ण के रूप-रूपी कमल मे गड गये हैं। पराग से युक्त कृष्ण के नेत्र-कमलों पर मेरे नेत्र रूपी भ्रमर लुब्ध हो चुके हैं। हंसी रूपी सूर्य के प्रकाश को देखकर विकसित कमल नेत्रों से निकलकर हमारे नेत्र-भ्रमर बार-बार उन पर बैठते हैं और कृष्ण के हाथ और चरण रूपी कमलो पर घूम घूम कर जा बैठते हैं। कितनी सुन्दर कल्पना है तथा कितना स्वाभाविक रूप मे रूपक बाँधा है।

बादल-विषयक कल्पनाएँ

विरह-वर्णन के अन्तर्गत सूर की सुन्दर एवं अलौकिक कल्पना बादलों के विषय मे प्राप्त वर्णनो मे दर्शनीय है। बादलों से सम्बन्धित ऐसा एक पद देखिये —

> "देखियत चहुँ दिशि ते घन घोरे।
> मानों मत्त मदन के हथियन बलि करि बन्धन तोरे।।
> स्याम सुभग तन चुमत गंड मद बरसत थोरे-थोरे।
> रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे।।
> बल बेनी बल निकसि नयन जल कुच-कंचु कि बंद बोरे।
> मनों निकसि बग पांति दांत उर अवधि सरोवर फोरे।।"

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि बादल क्या हैं मानो मदमस्त हाथियों ने बन्धन तोड़ दिये हों। धीमी धीमी बूंदों का गिरना ऐसा है मानो गण्डस्थल से मद चू रहा हो। पवन रूपी महावत उन्हें अकुंश मार रहा है, किन्तु फिर भी वे मुड़ते नहीं हैं। गगन मे उड़ती हुई श्वेत बगुलो की पंक्ति मानो हाथियों के श्वेत दाँत हैं। उन्होंने कृष्ण गमन की अवधि रूपी सरोवर को फोड़ दिया है। आंसों से पानी जोर जोर से गिरने लगा है। जिससे कुच एवं कंचुकि आदि पानी से तर हो गये हैं। कितनी सुन्दर कल्पना एवं साङ्गरूपक है।

उरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे॥
ढुरि ढुरि बूँदि परत कंचुकि पर, मिलि काजर सौं कारे।
मानौं परन-कुटी सिव कीन्हीं, बिन मूरति धरि न्यारे॥
घुमिड़ि-घुमिड़ि गरजत जल छाँड़त, अंबु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिन गिरिवर-धर-प्यारे।"

गोपियों के नेत्रों से तो बादल भी पराजय मान चुके हैं। बादल जल के कोष हैं, किन्तु वे तो केवल एक ही ऋतु, वर्षा ऋतु में ही बरसते हैं, पर गोपियों के नेत्र बिना ऋतु के ही बरसते रहते हैं। वे इतने बरसे हैं कि नेत्रों की पुतली भी मैली हो गई है। दुःख रूपी वर्षा के कारण वचन-खग मुख रूपी घर में घुस गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दुःख के कारण वचन भी मुख से नहीं निकलते। अश्रुओं की धारा में सारा ब्रज डूबा जा रहा है। कृष्ण के अतिरिक्त भला अब इसकी रक्षा कौन कर सकता है? कितनी मनोहर कल्पना है! रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक आदि अलंकारों के संयोग ने आकर्षण को और भी अधिक बढ़ा दिया है। कल्पना से उच्च कोटि की भावसृष्टि तो हुई ही है, साथ ही अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग ने वर्णन को और भी अधिक हृदयस्पर्शी बना दिया है।

नेत्रों से सम्बन्धित सूर की कल्पना-शक्ति का एक और उदाहरण प्रस्तुत करना अवश्यक एवं अप्रासंगिक नहीं होगा। यह पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

"लोचन भृंग भये री मेरे।
लोकलाज बन घन बेलि तजि, आतुर ह्वै जु गड़े रे।
श्याम रूप रस वारिज लोचन, तहाँ जाइ लुब्धे रे।
लपेटे लटकि पराग विलोकनि, सम्मुख लोभ परे रे॥
हंसनि प्रकाश विभास देखि कै, निकसत पुनि तहँ बैठत।
सूरश्याम अबुंज कर चरननि तहँ तहँ भ्रमि-भ्रमि पैठत।"

इस पद में कवि ने लोचनों को भृङ्ग के रूप में चित्रित किया है। एक सखी जो कृष्ण की छवि पर मुग्ध है वह दूसरी सखी से कह रही है कि ऐ सखि ! मेरे नेत्र तो भौंरे बन गये हैं। लोक-लाजरूपी वन की अधिक वेलों को छोड़कर तथा व्याकुल होकर कृष्ण के रूप-रूपी कमल में गड़ गये हैं। पराग से युक्त कृष्ण के नेत्र-कमलों पर मेरे नेत्र रूपी भ्रमर लुब्ध हो चुके हैं। हसी रूपी सूर्य के प्रकाश को देखकर विकसित कमल नेत्रों से निकलकर हमारे नेत्र-भ्रमर बार-बार उन पर बैठते हैं और कृष्ण के हाथ और चरण रूपी कमलों पर घूम घूम कर जा बैठते हैं। कितनी सुन्दर कल्पना है तथा कितना स्वाभाविक रूप मे रूपक बांधा है।

बादल-विषयक कल्पनाएँ

विरह-वर्णन के अन्तर्गत सूर की सुन्दर एवं अलौकिक कल्पना बादलों के विषय में प्राप्त वर्णनों में दर्शनीय है। बादलो से सम्बन्धित ऐसा एक पद देखिये—

"देखियत चहुं दिशि ते घन घोरे।
मानों मत्त मदन के हथियन बलि करि बन्धन तोरे।।
स्याम सुभग तन चुवत गंड मद बरसत थोरे-थोरे।
रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे।।
बल बेनी बल निकसि नयन जल कुच-कचु कि बंद बोरे।
मनौं निकसि बग पांति दांत उर अवधि सरोवर फोरे।।"

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि बादल क्या हैं मानो मदमस्त हाथियों ने बन्धन तोड़ दिये हो। धीमी धीमी बूंदों का गिरना ऐसा है मानो गण्डस्थल से मद चू रहा हो। पवन रूपी महावत उन्हें अकुंश मार रहा है, किन्तु फिर भी वे मुड़ते नहीं हैं। गगन में उड़ती हुई श्वेत बगुलों की पंक्ति मानो हाथियों के श्वेत दाँत हैं। उन्होंने कृष्ण गमन की अवधि रूपी सरोवर को फोड़ दिया है। आंखो से पानी जोर जोर से गिरने लगा है। जिससे कुच एवं कंचुकि आदि पानी से तर हो गये हैं। कितनी सुन्दर कल्पना एवं साङ्गरूपक है।

उरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे॥
दुरि दुरि बूंदि परत कंचुकि पर, मिलि काजर सौं कारे।
मानों परन-कुटी सिव कीन्हीं, बिन मूरति धरि न्यारे॥
सुमिरि-सुमिरि गरजत जल छांड़त, अंसु सलिल के धारे।
बढ़त ब्रजहिं सूर को राखें, बिन गिरिवर-धर-प्यारे।"

गोपियों के नेत्रों से तो बादल भी पराजय मान चुके हैं। बादल जल के कोष हैं, किन्तु वे तो केवल एक ही ऋतु, वर्षा ऋतु में ही बरसते हैं, पर गोपियों के नेत्र बिना ऋतु के ही बरसते रहते हैं। वे इतने बरसे हैं कि नेत्रों की पुतली भी मैली हो गई हैं। दुःख रूपी वर्षा के कारण बचन-खग मुख रूपी घर में घुस गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दुःख के कारण वचन भी मुख से नहीं निकलते। अश्रुओं की धारा मे सारा ब्रज डूबा जा रहा है। कृष्ण के अतिरिक्त भला अब इसकी रक्षा कौन कर सकता है? कितनी मनोहर कल्पना है! रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक आदि अलंकारों के संयोग ने आकर्षण को और भी अधिक बढ़ा दिया है। कल्पना से उच्च कोटि की भावसृष्टि तो हुई ही है, साथ ही अलकारों के स्वाभाविक प्रयोग ने वर्णन को और भी अधिक हृदयस्पर्शी बना दिया है।

नेत्रों से सम्बन्धित सूर की कल्पना-शक्ति का एक और उदाहरण प्रस्तुत करना अवश्यक एवं अप्रासंगिक नहीं होगा। यह पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

"लोचन भृंग भये री मेरे।
मोहलाज बन घन बेलि तजि, आतुर ह्वै जु गये रे।
श्याम रूप रस वारिज लोचन, तहां आइ लुब्धे रे।
लपेटे लटकि पराग बिलोकनि, सम्पुट लोभ परे रे॥
हंसनि प्रकाश बिभास बेलि के, निकसन पुनि तहँ बंधन।
सूरश्याम अंबुज कर चरननि तहँ तहँ भ्रमि-भ्रमि मंडन।"

इस पद में कवि ने लोचनों को भृङ्ग के रूप में चित्रित किया है। एक सखी जो कृष्ण की छवि पर मुग्ध है यह दूसरी सखी से कह रही है कि ऐ सखि। मेरे नेत्र तो भौंरे बन गये हैं। लोक-लाजरूपी वन की अधिक बेलों को छोड़कर तथा व्याकुल होकर कृष्ण के रूप-रूपी कमल में गड गये हैं। पराग से युक्त कृष्ण के नेत्र-कमलों पर मेरे नेत्र रूपी भ्रमर लुब्ध हो चुके हैं। हंसी रूपी सूर्य के प्रकाश को देखकर विकसित कमल नेत्रों से निकलकर हमारे नेत्र-भ्रमर बार-बार उन पर बैठते हैं और कृष्ण के हाथ और चरण रूपी कमलों पर घूम घूम कर जा बैठते हैं। कितनी सुन्दर कल्पना है तथा कितना स्वाभाविक रूप मे रूपक बाँधा है।

बादल-विषयक कल्पनाएँ

विरह-वर्णन के अन्तर्गत सूर की सुन्दर एवं अलौकिक कल्पना बादलों के विषय में प्राप्त वर्णनों में दर्शनीय है। बादलों से सम्बन्धित ऐसा एक पद देखिये—

> "देखियत चहुं दिशि ते घन घोरे।
> मानौं मत्त मदन के हथियन बलि करि बन्धन तोरे।।
> स्याम सुभग तन चुवत गड मद बरसत थोरे-थोरे।
> रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे।।
> बल बेनी बल निकसि नयन जल कुच-कचुंकि बंद बोरे।
> मनौं निकसि बग पाँति दांत उर अवधि सरोवर फोरे।।"

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि बादल क्या हैं मानो मदमस्त हाथियों ने बन्धन तोड़ दिये हों। धीमी धीमी बूंदों का गिरना ऐसा है मानो गण्डस्थल से मद चू रहा हो। पवन रूपी महावत उन्हें अकुंश मार रहा है, किन्तु फिर भी वे मुड़ने नहीं हैं। गगन में उड़ती हुई श्वेत बगुलों की पंक्ति मानो हाथियों के श्वेत दाँत हैं। उन्होंने कृष्ण गमन की अवधि रूपी सरोवर को फोड़ दिया है। आँखों से पानी जोर जोर से गिरने लगा है। जिससे कुच एवं कंचुकि आदि पानी से तर हो गये हैं। कितनी सुन्दर कल्पना एवं साङ्गरूपक है।

गोपियों के नेत्रों से निकलते हुए आँसुओं से सम्बन्धित एक और कल्पना देखिये—

> "मेरे नैना विरह की बेलि बई ।
> सींचत नैन नीर के सजनी मूर पाताल गई ।।
> बिकसित लता स्वभाइ आपने छाया सघन भई ।
> अब कैसे निरुवारौं सजनी, सब तन पसरि छई ।।"

गोपियों के नेत्रों से गिरते हुए आँसू विरह की लता को सींच हैं। सींचने से लता का विस्तार होता है। इसी प्रकार विरह की बेल गोपियों के समस्त शरीर को आच्छादित कर दिया है। कितना अगा विरह है।

साँग रूपक

उपमा और उत्प्रेक्षा तो सूर के पदों में सर्वत्र प्राप्त हैं ही, रूपक अलंका का भी स्वाभाविक प्रयोग उनके अनेक पदों में देखते ही बनता है। उन्हों अनेक पदों में सुन्दर एवं स्वाभाविक साँगरूपक भी बाँधे हैं जिन्हें उद्धृत करं का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। पहले विनय के एक पद में कवि कं कल्पना और साँगरूपक का सुन्दर निर्वाह देखिये—

> "अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल ।
> काम क्रोध को पहिर चोलना कण्ठ विषय की माल ।।
> महामोह को नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल ।
> भरम भरयो मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल ।।
> तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दे ताल ।
> माया को कटि फेंटा बांध्यो लोभ तिलक दियो भाल ।।
> कोटिक कला कांछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल ।
> सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नंदलाल ।।"

में विशेष रूप से उनकी कल्पना अत्यन्त सूक्ष्म और उनका अनुभव बहुत गहरा दिखाई देता है। सूर ने अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है और स्वाभाविक रूप में किया है। अलंकार बरबस लाकर बिठाये गये प्रतीत नहीं होते। उनसे कथन में तीव्रता आई है। वे काव्य के भावपक्ष को कोई हानि नहीं पहुँचाते, वरन् उसे और भी सुन्दर एवं मनमोहक बना देते हैं। वास्तव में यह कहना भी कठिन है कि एक भी ऐसा अलंकार उनकी दृष्टि से बच गया है जिसके द्वारा हार्दिक अनुभूति की व्यंजना सरल और प्रभावशाली हो सकती थी। उनके अलंकार-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे एक दूसरे से मिल कर इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं कि मानों कवि के कल्पना-जगत में उपमानों का ऐसा अक्षय कोष है कि उन्हें उनके प्रयोग के लिए तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता। अनेक अलंकार एक साथ मिल कर उनके कल्पना-वैभव और योजना-शक्ति का अनुपम परिचय देते हैं। निम्नलिखित पद में अन्योक्ति के अन्तर्गत रूपकगर्भित अपह्नुति दर्शनीय है—

"मधुकर हम न होहिं वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग करत कुसुम-रस केलि॥
बारे तें बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषीं पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठ फूलत, होत सदा हित हानि॥
ये बेलि बिरही बृन्दावन उरझीं स्याम तमाल।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल।
जोग समीर धीर नहिं डोलति, रूप डार दृढ़ लागी॥
'सूर' पराग न तजति हिए तें, श्री गुपाल अनुरागी॥"

इस प्रकार हमने देखा कि सूर की कल्पना उच्चकोटि की भाव-सृष्टि करने वाली है। चमत्कारों के संयोग से वह और भी आकर्षक बन जाती है। अतः प्रश्नगत उक्ति अक्षरशः सत्य है।

प्रश्न १३—"वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया उतना और किसी कवि ने नहीं। वे इसका कोना-कोना झाँक आये हैं।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार महात्मा सूरदास को जब श्री वल्लभाचार्य जी ने दीक्षित किया था तो उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीला पर ही सूर का ध्यान अधिक आकृष्ट कराया था। श्रीमद्‌भागवत में भी जिसका आधार सूर ने 'सूरसागर' की रचना में किया है, श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का चित्रण प्राप्त होता है। अतः श्री आचार्य जी से प्रेरणा पाकर तथा भागवत से आधार लेकर सूर ने श्रीकृष्ण का बाल-चरित्र अत्यन्त विस्तृत एवं विशद रूप में चित्रण किया है।

वात्सल्य रस

वात्सल्य रस से सम्बन्धित कथा संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य दो भागों में विभक्त की जा सकती है। संयोग वात्सल्य से तात्पर्य उस कथा से है कि जब कृष्ण यशोदा के साथ ब्रज में थे। वियोग वात्सल्य से सम्बन्धित कथा उसे कहा जाता है कि जब वे मथुरा चले गये थे। वियोग वात्सल्य के पद कुछ अधिक मात्रा में नहीं हैं, किन्तु संयोग वात्सल्य के पदों की संख्या अधिक है।

रस की निष्पत्ति में स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आवश्यक होते हैं। इन सभी के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है। वात्सल्य रस में बाल-प्रेम स्थायी-भाव होता है। यहाँ आलम्बन श्रीकृष्ण हैं और आश्रय यशोदा हैं। श्रीकृष्ण का शारीरिक सौंदर्य, उनका बुद्धि कौशल तथा बाल-सुलभ चेष्टायें उद्दीपन हैं। प्रसन्नता, हास्य, गोद लेना, चूमना, आदि अनुभाव हैं। हर्ष, भाव-पुलक, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। सूर ने वात्सल्य रस के इन सभी अंग-प्रत्यंगों का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर वात्सल्य रस का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनमोहक चित्रण किया है।

महाकवि सूरदास बाल मनोविज्ञान के महान् पंडित थे। बाल मनोविज्ञान के अद्भुत ज्ञान से वात्सल्य रस के चित्रण में उनको बहुत सहायता की है। वास्तव में वात्सल्य रस का इतना सजीव, सरस एवं स्वाभाविक वर्णन हिन्दी में कोई कवि नहीं कर सका है। हिन्दी में ही क्या, विश्व में भी इस दृष्टि से सूरदास जी अनुपमेय हैं। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने गीतावली आदि में जो भगवान् राम का बाल-वर्णन किया है, उसमें उन्हें सूर के समान सफलता नहीं मिल सकी है।

रूप चित्रण

महात्मा सूरदास ने श्रीकृष्ण के बाल-वर्णन के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का रूप-चित्रण किया है, सर्वप्रथम हम उसी को लेते हैं। कृष्ण के रूप-सौंदर्य पर कवि मुग्ध है। रूप-सौंदर्य के चित्रण मे नवीन उपमायें तथा उत्प्रेक्षायें एकत्रित करके सूर ने जो चित्रण किया है, वह देखते ही बनता है। उसमें आकर्षण, मार्मिकता, वास्तविकता तथा प्रभावविष्णुता देखने योग्य है। अंग-प्रत्यंग का इतना सुन्दर चित्रण सूर ने किया है कि पाठक के नेत्रो के सम्मुख श्रीकृष्ण के रूप-सौंदर्य का चित्र साकार हो उठता है। अनेक-उपमाओ से अलंकृत कृष्ण के श्यामल शरीर का वर्णन, अपार ज्योति-सम्पन्न कृष्ण के नखों का आकर्षक वर्णन, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार वस्त्राभूषणों का विवरण तथा राधा के सौंदर्य का चित्रण किस पाठक को अपनी ओर आकर्षित न कर लेगा ?

श्रीकृष्ण ने सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण किये हुए हैं। उन्हें देख कर यशोदा के हृदय में जो सुख का सागर हिलोरें भरता है उनका वर्णन इन पंक्तियों में देखिए—

> "आँगनि श्याम नचावहिं यशुमति नंदरानी।
> तारि दै-दै गावहिं मधुरी मृदु बानी॥

पायन नूपर बाजई, कटि किंकनि कूजै ।
नन्हीं एड़ियन अरुनता फल बिम्ब न पूजै !"

× × ×

"हौं बलि जाऊँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घुटुरुन रेंगन बोलनि वचन रसाल की ।।
छिटकि रहीं चहुँ दिशि जु लटुरियाँ लटकन लटकत भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कण्ठ कमल दल माल की ।।
कछुक हाथ, कछु मुख माखन, चितवनि नयन विशाल की।
सूरज प्रभु के प्रेम मगन भईं ढिग न तजत ब्रज बाल की।"

बाल-लीला

रूप-सौन्दर्य के अतिरिक्त बाल-लीला के भी अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्र "सूरसागर" में उपलब्ध होते हैं। संयोग वात्सल्य के वर्णन में कृष्ण की तुतलाती भाषा, घुटुरुन चलना, धीरे-धीरे खड़ा होना और फिर गिर पड़ना, नन्द को बाबा कहना, शरीर पर धूल लपेटना, मुख पर दही का लेप कर लेना आदि कितनी ही बाल-सुलभ चेष्टाओं का बाल-मनोविज्ञान के पंडित महाकवि सूर ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी, स्वाभाविक एवं भावपूर्ण ढंग से चित्रण किया है। बाल-दशा में बालकों की रुचि कैसी होती है, इसका सूर को पूर्ण ज्ञान था। एक उदाहरण देखिये—

"यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलरावै, मल्हरावै, जोइ सोइ कछु गावै ।।
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुलावै।
तू काहे नहिं बेगहि आवै तोको कान्ह बुलावै ।।
कबहूँ पलक हरि मूंद लेत हैं कबहूँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै ।।
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनी पावै ।।

कितना स्वाभाविक चित्र है ? यशोदा लोरी गा-गाकर कृष्ण को सुला रही हैं। कृष्ण के आँख बन्द कर लेने पर माँ समझती है कि बेटा अब सो गया है। वह लोरी गाना बन्द कर देती है और वहाँ से उठना ही चाहती थी कि फिर कृष्ण अकुला उठे और यशोदा फिर से लोरी गाने लगी। उसे पुत्र के पास ही बैठा रहना पड़ा।

इसी प्रकार बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं। यशोदा उसे देखकर स्वयं तो आनन्दित होती ही है, नन्द को भी यह दृश्य देखने के लिए बार-बार बुलाती है। वास्तव में कृष्ण का सौन्दर्य अवर्णनीय है—

"कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करत ही सो देखत नन्द घरनी॥
रुनुन झुनुक नूपुर बाजत पग यह है अति मन हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरत है अति छवि जात न बरनी॥"

बाल स्वभाव है कि बालक दूध पीने से मन चुराते हैं। यशोदा चोटी बढ़ने का प्रलोभन देकर उन्हें फुसलाना चाहती है—

"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै।"

कृष्ण माता के फुसलाने में आकर दूध पीने लगे, किन्तु दूध पीने के साथ साथ अपनी चोटी भी देखते हुए माँ से कहने लगे—

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किति बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूं है छोटी।"

अब यशोदा के पास क्या उत्तर था ? निरुत्तर हो गई और उसे उनकी प्रिय वस्तु माखन-रोटी देनी ही पड़ी। कितना स्वाभाविक एवं बाल सुलभ वर्णन है। बाल-हठ के साथ माता का स्नेहस्निग्ध हृदय दर्शनीय है।

'माखन-चोरी' प्रसंग में तो कृष्ण का बुद्धि-चातुर्य देखते ही बनता है। व्रज के घरों में घूम-घूम कर सखाओं के साथ माखन चोरी करना और पकड़े

जाने पर किस चातुर्य का प्रयोग करते हैं। इसका वर्णन बड़ा ही विनोदपूर्ण है। एक दिन संध्या के समय कृष्ण माखन-चोरी के लिए एक घर में घुस गये। दही में हाथ डाला ही था कि एक गोपी ने देख लिया और जाकर पकड़ लिया। गोपी ने कहा—

> "स्याम कहा चाहत से डोलत।
> बूझे हुते बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत ।।
> सूने निपट अंधियारे मन्दिर दधि भाजन में हाथ।
> अब कहि कहा बनै हौ उत्तर कोऊ नाहिन साथ ।।"

किन्तु कृष्ण घबड़ाने वाले बालक नहीं थे। उन्होंने बड़ी चपलता से उत्तर दिया—

> "हौं जान्यो यह घर अपनो है या धोके में आयौ।
> देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायौ ।।"

मैंने तो यह घर अपना ही समझा था। अपना घर समझ कर ही घर में घुस आया। जब गोरस में चींटी देखी तो उसे निकालने के लिए उसमें हाथ डाल दिया। कृष्ण के बुद्धि चातुर्य को देखकर गोपी निहाल हो गई और उन्हें छोड़ दिया।

एक बार कृष्ण अपने घर में माखन-चोरी करते पकड़े गये। मुख पर माखन लगा हुआ है। स्पष्ट प्रमाण था कि कृष्ण ने माखन चुरा कर खाया है। माँ ने जब प्रश्न किया तो कृष्ण ने उत्तर दिया—

> "मैया मैं नहीं माखन खायो।
> ख्याल परे ये सखा सबै मिलि बरबस मुख लपटायो ।।
> देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
> तुहि निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो ।।
> मुख दधि पोंछ कहत नन्द नन्दन दोना पीठ दुरायो।
> डारि सांटि मुसुकाई तबहि गहि सुत को कंठ लगायो ।।"

कितना सुन्दर उत्तर है कि ग्वाल बालों ने बरबस माखन उनके मुख पर लगा दिया है। कितना सुन्दर तर्क है कि एक छोटा सा बालक भला इतने ऊँचे सींके पर पर अपना हाथ कैसे पहुँचा सकता है ? माँ कृष्ण के बुद्धि चातुर्य को देखकर गदगद हो गई और बेटे को गले से लगा लिया।

कृष्ण बलदाऊ आदि के साथ खेलने जाया करते थे। खेलते-खेलते ही प्रायः दोनों में झगड़ा हो जाता था। बलराम ने एक दिन कृष्ण से यह कह दिया कि तू तो दाई को पैसे देकर मोल लिया है, तू यशोदा से उत्पन्न नहीं हुआ। कृष्ण को यह बहुत बुरा लगा। वे रोने लगे और रोते-रोते माँ से आकर शिकायत की—

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीन्हा तू जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं इहि रिसि के मारे खेलन हौं नहीं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तात॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी तू कत स्याम शरीर।
चुटकी दै दै हंसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर॥"

× × ×

"खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरकनि संग तबहि खिजत बल भैया॥
मोसों कहत पुत वसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लयो कछु दै वसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥"

बालकों की नटखट प्रवृत्ति का कितना स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी वर्णन ? सभी जानते हैं कि चिढ़ाने में बालकों को कितना आनन्द आता है? री बाल-सुलभ चेष्टाओं का इन पदों में कितना सुन्दर चित्रण है! . मातृ-हृदय की अभिव्यंजना देखते ही बनती है। पुत्र की चंचलता

और खीझना देखकर माता प्रसन्न होती है। अन्त में पुत्र को प्रसन्न करने के लिए वह कह ही बैठती है कि मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि मैं ही तेरी माता हूँ, और तू मेरा पुत्र है। मातृ-हृदय की इतनी सुन्दर व्यंजना भला और कहाँ हो सकती है ? गोपियाँ नित्य प्रति यशोदा को कृष्ण की चोरी का उलाहना दिया करती थी। एक दिन यशोदा को गुस्सा आ गया। उसने कृष्ण को ऊखल से बांध दिया। जब वे हिचकियाँ भर-भर कर रोने लगे तो गोपियों ने यशोदा को निष्ठुर बताया और कृष्ण को खोलने को कहने लगीं। यशोदा ने बात का जो उत्तर दिया, वह मातृ-हृदय की सुन्दर अभिव्यक्ति है, देखिये—

> "कहति लगी अब, बढ़ बढ़ बात !
> ढोटा मेरो तुमहिं बंधायो, तनकइ माखन खात ॥
> मेरे लाल को मारग खिलौना ऐसे को ले जैहे री।
> नेक सुनत जो यहाँ ताको, सो कैसे ब्रज रहे री।"

यशोदा का कृष्ण से बहुत प्रेम था। वह पल भर भी अपने पुत्र को अपने से अलग करना नहीं चाहती थी, परन्तु दुर्भाग्य से एक दिन वह समय भी आ पहुँचा जब अक्रूर कृष्ण को लेने आते हैं। यशोदा व्याकुल हो उठती हैं। वे सारे गोधन को कृष्ण के बदले में समर्पित करने को प्रस्तुत हैं, किन्तु कृष्ण उनकी आँखों के आगे से चले जाँय यह उन्हें सह्य नहीं था। कृष्ण मथुरा चले गये। यशोदा विलाप करती हैं। नंद उन्हें मथुरा छोड़ कर लौट आये। वे नन्द को धिक्कारती हैं और कहती हैं कि वे तो दशरथ ही थे जो पुत्र-वियोग में तड़प-तड़प कर जीवन दे बैठे और एक तुम हो जो पुत्र को छोड़ कर मुझे यहाँ संदेशा देने आये हो। वे अपने पुत्र को याद करती हैं। उनकी याद में वे अपने सारे शरीर को घुला देती हैं। कृष्ण की प्रिय वस्तुएँ अब उन्हें घुन के समान लगती हैं। दूध नवनीत आदि कृष्ण की प्रिय वस्तु यशोदा के वात्सल्य-वियोग को अब बहुत अधिक उद्दीप्त करती हैं। वे इन वस्तुओं को याद कर करके कहती हैं—

(2) "मेरे कुंवर कान्ह बिनु सब वैसे ही धरयो रहै।
को उठ प्रात होत लै माखन, को कर नेत गहै॥
सूने भवन यशोदा सुत के, गुनि-गुनि सूल सहै।"

× × ×

"निसि बासर छतियां लै ल्याऊँ।
बालक लीला गाऊँ॥
वैसे भाग बहुरि फिर ह्वैं हैं;
मोहन मोद खवाऊँ॥

मथुरा जाते हुए पथिक से यशोदा कह रही है—

"सन्देसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
यद्यपि टेव जानि तुम उनकी तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठति तुम्हारे कान्हहि माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ मांगत सोइ-सोइ देतो क्रम-क्रम के न्हाते॥"

इस प्रकार हमने देखा कि सूर ने मातृ-हृदय का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। बाल-हृदय की सुलभ चेष्टाओं के स्वाभाविक एवं हृदय स्पर्शी वर्णन का तो कहना ही क्या? निस्सन्देह सूर वात्सल्य का कोना कोना झाक आये हैं। वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आखों से किया उतना और किसी कवि से नहीं। वास्तव मे इस क्षेत्र मे वे हिन्दी में ही नही, समस्त विश्व के साहित्य में अपनुमेय हैं।

प्रश्न १४—"दैन्य भाव सूरदास के मानस का एक स्थायी भाव है, जो उनकी श्रद्धा, विनय-शीलता, भक्ति-भावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है।" इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये।

भक्तों की सदैव से यह परिपाटी रही है कि वे भगवान् को महान् एवं स्वयं को लघु मानते रहे हैं। स्वयं को लघु और भगवान् को महान् मान कर

भक्त जिस भाव की अभिव्यक्ति करता है, वह दैन्य भाव के अन्तर्गत आता है। महात्मा सूरदास ने अपने विनय के पदों में इसी भाव की अभिव्यक्ति की है। वह इस प्रकार के पदों में भगवान् की दयालुता, पतित-पावनता तथा भक्त-वत्सलता दिखाकर उनका महात्म्य प्रदर्शित करते हैं तथा भक्त की अवलंबहीनता, पतितावस्था, असमर्थता और दीनता-हीनता प्रगट करके उसकी लघुता का परिचय देते हैं। सूरदास ने अनेक ऐसे पदों की रचना की है जिनमें उन्होंने अपनी लघुता की अतिरंजना करके करुणानिधि भगवान् से कृपा की याचना की है। इस प्रकार के पदों मे वे भगवान् के चरणों के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। वे बार-बार भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वे उसे अपनी शरण में लेकर दास की भाँति रक्षा करें। इस प्रकार का एक पद देखिये—

"जो हम भले बुरे तो तेरे।
तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई बिनती सुनि प्रभु मेरे।
सब तजि तुम सरनागत आयो दृढ़ करि चरन गहे रे।
तुम प्रताप बल बदन न काहू निडर भए घर-चेरे।"
और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
'सूरदास' प्रभु तुम्हारी कृपा ते पाए सुख जु घनेरे॥"

अनन्य भाव

भक्त के अनन्य भाव से उसकी प्राप्ति की तीव्रता और अनुराग की तन्मयता प्रगट होती है। अपने इष्ट देव के आगे वह किसी को कुछ भी नहीं समझता। उसकी सुरक्षा पाकर वह अपने आपको निर्भय समझता है। अपने इष्टदेव के सम्मुख उसे अन्य देवता रंक-भिखारी प्रतीत होते हैं। जब वह अपने आपको अपने इष्टदेव का दास बताता है तो वह अपने को बहुत गौरवशाली समझता है। वह अपने स्वामी का दास बन जाता है और उसकी जूठन खाने में उसे अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। इसी भाव का प्रगटीकरण सूर के इस पद में देखिये--

हमें नन्द नन्दन मोल लिये ।
जम के फंद काटि मुकराये, अभय अजाद किये ।
भाल तिलक स्रवननि तुलसीदल मेरे अंक दिये ।
मूंड्यो मूड, कंठ बनमाला मुद्रा चक्र दिये ।
सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिये ।
'सूरदास' को और बड़ो सुख, जूठनि खाइ जिये ॥"

वास्तव में भगवान् ही करुणानिधान हैं । भक्त यदि भगवान् की दयालुता का वर्णन करते-करते नहीं थकता, तो भगवान भी तो अपने सेवक की रक्षा अत्यन्त तत्परता से करता है । जिस प्रकार एक गाय अपने बछड़े के पीछे पीछे उसकी चिंता में फिरती रहती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्त की चिन्ता में दिन रात मग्न रहता है । वह उसकी रक्षा के लिए प्रत्येक क्षण तत्पर रहता है । इसी भाव का यह पद दर्शनीय है—

"हरि सौं ठाकुर और न जन को ।
जिहि जिहि विधि सेवक सुख पावै, तिहि विधि राखत मन कौ ।
भूख भये भोजन जु उदर को, तृषा तोय पट तन को ।
लग्यो फिर सुरभी ज्यौं सुत संग, औचट गुनि गृह बन कौ ।
परम उदार चतुर चिंता मनि, कोटि कुबेर निधन कौ ।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन को ।
संकट परं तुरति उठि धावत, परम सुभट निज पन को
कोटिक करं एक नहिं मानं, 'सूर' महा कृतघन को ॥"

भक्त-वत्सल हरि की असीम कृपा के उदाहरण अनेक हैं । वे अपने भक्त की योग्यता देखकर कृपा नहीं करते । उनकी दृष्टि में भक्त की सब से बड़ी अयोग्यता ही सबसे अधिक योग्यता है । वे जाति, कुजाति, कुल, मान, मर्यादा किसी का भी कोई विचार नहीं करते । वे तो केवल प्रीति के ग्राहक हैं । वे तो अपने में भक्ति करने वाले की संकट के समय सहायता करते हैं ।

वास्तव में वे तो दुःखी और आर्त के सहज साथी हैं। इसी भावना का प्रगटीकरण इस पद में दर्शनीय है—

"स्याम गरीबन हूँ के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर साँचे प्रीति निबाहक।
कहा बिदुर की जाति-पाँति कुल, प्रेम-प्रीत के लाहक।
कहा पडंव के घर ठकुराई, अरजुन के रथ-वाहक।
कहा सुदामा के धन हो तौ सत्य-प्रीति के चाहक।
'सूरदास' सठ तातैं हरि भजि आरत के दुख दाहक॥"

सरल रूप

महात्मा सूरदास ने तुलसी की भाँति भगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन नहीं किया है। वे तो उनके सरल रूप के ही उपासक हैं। रामावतार संबंधी पदों में भी उन्होंने राम के वैभव का गौरवपूर्ण चित्र नहीं खींचा। वहाँ भी वे तो राम के हृदय की करुणा एवं कोमलता ही टटोलते रहे हैं। वे राम के मर्यादावादी व्यक्तित्व के साथ आत्मीयता का अनुभव नहीं कर पाये। इसीलिए उन्होंने कृष्ण जी को अपना इष्टदेव बनाया। वे तो सरलता से ही अपने इष्टदेव के सम्मुख पहुँच कर आत्मनिवेदन करने के इच्छुक रहे। शिष्टाचार का आडम्बर उन्हें रुचिकर नहीं लगता। वे तो दीनता पूर्ण निवेदन में भी स्वामी के मुँह लगे सेवक की भाँति ढिठाई का प्रदर्शन कर आत्मीयता प्रगट करने लगते हैं—

"आज हौं एक एक करि टरिहौं।
के तुम ही के हौं माधौ, अपने भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतितैं ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हहिं बिरद बिन करिहौं॥
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तब ही उठिहै प्रभु, जब हँसि दैहो बीरा॥"

दैन्य भाव

इसी प्रकार सूरदास जी अपनी अधमता की अतिरंजना करके भगवान् को चुनौती देते हैं कि यदि तुम मेरा उद्धार कर दो तो जानूं। अब तक जिन पतितों का तुमने उद्धार किया है वे पाप करने में मुझ से बहुत नीचे हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो निरादर के व्याज से सूर ने भगवान् की पतित-पावनता की ही प्रशंसा की है। सेवक की धृष्टता आत्मीयता की ही परिचायक है। सूरदास जी तो इससे भी अधिक आत्मीयता के उत्सुक हैं। यह आत्मीयता उन्हें यशोदा, नन्द, गोपी आदि ब्रजवासियों के कृष्ण के प्रति भावों में प्राप्त हो सकती है। कहा जा सकता है कि सूर के मानस में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य का स्थान अधिक महत्व रखता है किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दैन्य-भाव सूर के भाव-जगत् का गौण भाव है। वास्तविकता तो यह है कि बिना दैन्य-भाव के भक्ति भाव ही सम्भव नहीं है। भाव-भाव की भक्ति किसी न किसी प्रकार दैन्य-युक्त ही होती है। अत्यधिक मार्मिक व्यथा के साथ हृदय की दीनता का प्रदर्शन इस पद में देखते ही बनता है—

> "अब कै राखि लेहु भगवान।
> हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरिया, पारधि साधे बान।।
> ताकै डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
> दुहूँ भाँति दुःख भयो आनि यह, कौन उबारै प्रान।।"

महात्मा सूरदास के वात्सल्य में भी दैन्य-भावना साथ-साथ चलती है। उनका हृदय इतना कोमल एवं द्रवणशील है कि तनिक-सा वियोग भी उन्हें सहन नहीं होता। यशोदा, नन्द आदि सभी ब्रजवासियों के हृदय में करुणा की धारा प्रवाहित होने लगती है। पहले आप यशोदा को ही लीजिये।

यशोदा का दैन्य

वह कृष्ण को पुत्र के रूप में पाकर जितनी उत्फुल्ल है, घोर आशंकाओं से वह उतनी ही दीन भी बन जाती है। उसकी यही दीनता उस समय तो

उसके हृदय को विदीर्ण कर देती है जबकि वह देखती है कि उसके कन्हैया अक्रूर के साथ मथुरा जाने वाले हैं। वह दीन होकर कह रही है—

"मोहन नंकु बदन-तन हेरो।
राखो मोहि नात जननी को, मदन गुपाल लाल मुख फेरो।
पीछे चढ़ो विमान मनोहर, बहुरो ब्रज में होत अँधेरो।
बिधुरन भेंट देहु ठाड़े ह्वं, निरखो घोष जनम को खेरो।
समदो सखा स्याम यह कहि कहि अपने गाई ग्वाल सब घेरो।
गये न प्रान सूर तिहि औसर, नन्द जतन करि रहे घनेरो॥"

नन्द का दैन्य

अब तनिक नन्द की दशा देखिये। जब कृष्ण मथुरा से नन्द को अकेले ब्रज लौटने के लिए कहते हैं तो नन्द का हृदय फटने लगता है। अकेले लौटना उनके लिए कठिन हो जाता है। वे बार-बार सोचते हैं कि वे कैसे लौटें। यशोदा को वे क्या उत्तर देंगे? उनका हृदय ग्लानि से भर जाता है। उन्हें स्पष्ट रूप में अपनी हीनता और कृष्ण की प्रभुता में अन्तर दिखाई देने लगता है। वे अत्यन्त करुण स्वर में पिता होते भी पुत्र से कहते हैं—

"तुम मेरी प्रभुता बहुत करी।
परम गंवार ग्वाल पशु-पालक, नीच दसा लें उच्च धरी॥"

जब नन्द ब्रज लौट कर आते हैं तो यशोदा उन्हें बहुत धिक्कारती है। वह कहती है तुम भी कैसे पिता हो जो अपने पुत्र को छोड़ कर चले आये। दशरथ की भाँति तुमने अपने प्राण वहीं क्यों न त्याग दिये? यशोदा के कातर वचनों को सुनकर नन्द बहुत व्याकुल हो गये और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। दोनों की दारुण-दीनता शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। कृष्ण को गवाँ कर उनका जीवन भीषण भार-सदृश हो गया। पिता चाहे एक बार पुत्र-वियोग को कर्तव्य आदि भावनाओं की गम्भीरता को समझ कर, सहन कर ले, किन्तु माता का हृदय किसी भी प्रकार पुत्र-वियोग सहन नहीं

कर सकता। यशोदा पथिक के द्वारा कृष्ण के पास ब्रज की दुर्दशा की सूचना भेजती हैं। वह चाहती है कि कृष्ण अवश्य लौट आवें। उसका हृदय यह सोच सोच कर ग्लानि से भर जाता है कि उसने कृष्ण को वास्तव में बहुत कष्ट दिये थे। उसने उनकी बाल-हठों को पूरा नहीं किया था। संभवतः इसीलिए वे लौट कर नहीं आये।

यशोदा को अब भी यही विश्वास है कि कृष्ण प्रेम के भूखे हैं, धन वैभव के नहीं। उसका वात्सल्य अब भी अटल है क्योंकि उसी में तो उसका सम्पूर्ण अस्तित्व निहित है। जब उद्धव ब्रज में आते हैं तो वह इन शब्दों में उनसे अपनी दीनता प्रकट कर रही है—

> "ऊधो हम ऐसी नहिं जानी।
> सुत के हेत मरम नहिं पायो प्रगटे सारंग पानी।
> निसि बासर छतियां सौं लाई, बालक लीला गाऊं।
> ऐसे कबहुँ भाग होहिंगे, बहुरी गोद खिलाऊं।
> बिहरति नाहिं बज्र की छाती, हरि वियोग क्यों सहियै।
> 'सूरदास' अब नन्दनन्दन बिनु, कहौ कौन बिधि रहियै॥"

जब उद्धव लौट कर मथुरा जाने को तैयार होते हैं तो यशोदा मूर्छित होकर गिर पड़ती है किन्तु प्रेम की तो फाँसी भी कुछ ऐसी होती है कि तड़पते हुए भी प्राण नहीं निकलते।

गोप मित्रों का दैन्य

अब तनिक गोप-मित्रों की दशा पर भी एक दृष्टि डाल लें। उनका उत्फुल्ल प्रेम भी वियोग दशा में अत्यन्त करुण हो जाता है। कृष्ण जी के वे सखा जो उनके साथ कभी निःसंकोच धृष्टता का व्यवहार करते थे, वे अत्यन्त दीनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। कृष्ण के वियोग में वे कातर बने हुए हैं। अब कृष्ण के दैवी रूप के संकेत उन्हें भावी वियोग का आभास देने लगते हैं [illegible] वे सखा-भाव को भूल जाते हैं और प्रार्थना करने लगते हैं—

"ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु।
जहाँ जहाँ तुम देह धरत हौ, तहाँ तहाँ जनि चरन छुड़ावहु॥"

सखाओं की इस दीनता को ब्रज के सामान्य नर-नारी की दीनता समझनी चाहिये। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि विशेष रूप से तो सूरदास जी को यशोदा, राधा और गोपियों की करुण दशा ने ही आकर्षित किया है। वास्तव में उन्हीं में उनके हार्दिक-दैन्य की सर्वाधिक गहरी और स्पष्ट प्रतिच्छाया है। विरह का तो कहना ही क्या, उसकी आशंका मात्र भी गोपियों को दीन बना देती है। कृष्ण के मुरली बजाने से आकृष्ट होकर रस-क्रीडा के लिए आई हुई गोपियों को जब कृष्ण 'युवतियों के धर्म' की शास्त्रीय शिक्षा देने लगते हैं तो गोपियाँ व्यथित होकर कह उठती हैं—

"निठुर बचन जनि बोलहु स्याम।
आस निरास करौ जनि हमरी ब्याकुल बचन कहत हैं बाम।
अन्तर कपट दूरि करि डारौ हम तन कृपा निहारौ।
कृपा सिंधु तुमकौं सब गावत अपनौ नाम सम्हारौ।
हमकों सरन और नहिं सूझै काप अब हम जाहिं।
'सूरदास' प्रभु निज दासिनी की चूक कहा पछिताहिं॥"

गोपियों की इस प्रार्थना तथा एक भक्त के दैन्य-प्रदर्शन में कोई अन्तर नहीं है।

गोपियों की भावना मूल रूप से भक्ति की ही भावना है। भक्ति-भावना में यदि तनिक सा अहंकार भी भक्त के हृदय में आ जाय तो उसके उसका आत्म समर्पण खंडित हो जाता है। इसीलिए सूरदास जी ने कई स्थानों पर गोपियों को अपने मान करने पर पछताते हुए दिखाया है, किन्तु भक्त-हृदय की दीनता का प्रदर्शन अत्यधिक मार्मिकता के साथ सूरदास ने गोपियों की करुण दशा के चित्रण में किया है। गोपियों के देखते-देखते कृष्ण जी रथ पर आरूढ़ होकर चले गये और बेचारी गोपियाँ अड़वत खड़ी देखती रह गई।

मन में वे मारे मन में पश्चात्ताप करती रहीं कि हमने उन्हें किसी प्रकार रोका क्यों नहीं ? उन्हें अब भी कृष्ण मिलन की आशा है। वे समझती हैं कि उनके विनती करने पर कृष्ण अवश्य दर्शन देंगे। निम्नलिखित उदाहरण में उनके कातर हृदय की गम्भीर करुणा दृष्टव्य है—

"नाथ अनाथनि की सुधि लीजै।
गोपी, ग्वाल, गाइ, गो सुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै।
चरन कमल दरसन नव नवका, करुना सिन्धु जगत जस लीजै।
'सूरदास' प्रभु आस मिलन की, एक बार आवन ब्रज कीजै॥"

एक बात अवश्य उल्लेखनीय है। गोपियों के हृदय का विषाद अधिकांश में उद्धव के साथ परिहासपूर्ण व्यंग्यों में ध्वनित हुआ है। अतः यह स्वाभाविक है कि उनके वचनों में यशोदा जैसा दैन्य सुनाई न दे। वास्तव में दैन्य के साथ सूरदास के स्वभाव का एक महत्वपूर्ण अंग व्यंग्य-विनोद भी है जिसका प्रकटीकरण उन्होंने अपने प्रारम्भिक दैन्य में किया है। गोपियों की करुणा के प्रकाशन में सूर की यह विनोदी प्रवृत्ति सर्वाधिक प्रगट हुई है, किन्तु कभी-कभी विनोद के बीच उनके हृदय का दैन्य बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त हो जाता है। वास्तव में गोपियों की दशा बहुत दयनीय हो जाती है। लीजिये, गायों की दशा से ही उनकी दशा का अनुमान कर लीजिये।

"ऊधो, इतनो कहियो जाइ।
अति कृस गात भईं ये तुम बिन परम दुखारी गाईं।
जल समूह बरसति दोउ अंखियाँ हूँ कति लीन्हें नाउँ।
जहां जहां गो-दोहन कीन्हो, सूंघति सोई ठाउँ।
परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारि हैं वारि मध्य तें मीन।"

वास्तव में गोपियाँ अत्यन्त दीन-मलीन हैं। उनके होठ सूख गये हैं

और चेहरे मुरझा गये हैं। कहाँ तक कहें, उनके तो मुख से बात तक नहीं निकलती—

"परम वियोगिनी सब ठाढ़ीं।
ज्यौं जलहीन दीन कुमुदिनी बन रवि-प्रकाश की डाढ़ी।
जिहि विधि मीन सलील तें बिछुरें, तिहिं अति गति अकुलानी।
सूखे अधर न कहि आवै कछु, वचन रहित मुख बानी।
उन्नत स्वास विरह बिरहातुर, कमल बदन कुम्हिलानी॥"

गोपियों को जब यह विदित हुआ कि श्याम मथुरा से भी द्वारिका चले गये तो वे और भी दुखी हो जाती हैं। अब तो मिलने की आशा और भी कम हो गई—

"नैना भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल उहां तें सजनी सुनियत दूरि सिधारे।
वे समुद्र हम मीन बापुरी, कैसे जीवें न्यारे।
हम चातक वै जलद श्याम-घन, पियति सुधारस न्यारे।
मथुरा बसत आस दरसन की, जोइ नैनयुग हारे।
'सूरदास' हमकों उलटी विधि मृतकहुँ तें पुनि मारे॥

राधा का दैन्य

गोपियों में सब से अधिक करुण दशा राधा की है। उसकी दशा तो इतनी करुण है कि उसका स्वर तक सुनाई नहीं देता। केवल कभी कभी मलिन दीन वेश में हो वह दिखाई दे जाती है—

"अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम जल भीज्यौ उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।
"अधमुख रहति अनत नहिं चितवति ज्यौं गत हारे थकित जुआरी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।

हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि, दूजे अलि जारी।
'सूरदास' कैसे करि जीवै, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोपियों की करुण दशा के वर्णन में कवि की उसी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति है जो विनय के पदों में उन्होंने करुणानिधान हरि की कृपा-याचना करते हुए प्रकट की थी। हाँ, एक अन्तर अवश्य उल्लेखनीय है। वह अन्तर यह है कि उस समय सूर को पूर्ण विश्वास नहीं था कि करुणानिधान कृष्ण उन्हें अपना सकेंगे। वह उस समय उनसे यथेष्ट दूरी का अनुभव करता था, किन्तु अब वह बात नहीं रही। अब उन्हें गोपियों के रूप में कृष्ण के साथ घनिष्ट आत्मीयता का अनुभव हो गया है। वहाँ तो वह मानते हैं कि उन्हें धृष्टता का एक अधिकार सा प्राप्त हो गया है। वे अब कृष्ण से स्पष्ट और खरी बातें करने में समर्थ हैं। यही कारण है कि अब उनके दैन्य में अविश्वास एवं निराशा नहीं है। यह दैन्य वस्तुतः प्रेम की चरम स्थिति का प्रकाश है। प्रेम की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् तो विरह की करुणा भी एक प्रकार का सुख देने वाली होती है।

अतः निश्चित है कि दैन्य भाव सूरदास के मानस का एक स्थायी भाव है जो उनकी श्रद्धा, विनयशीलता, भक्ति-भावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है।

प्रश्न १५—'सूर का भाषाधिकार' शीर्षक निबन्ध लिखिये।

महाकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' की भाषा ब्रज भाषा है जो हिन्दी का ही एक विशिष्ट रूप है। यदि हम सूरदास की शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा के पूर्व की राजस्थानी से मिश्रित ब्रज भाषा के विकास पर एक दृष्टि डालें तो कहना पड़ेगा कि सूर किसी ब्रज भाषा की अज्ञात परम्परा में अवतीर्ण हुए थे, किन्तु उनका इसके परिष्कार और अलंकृति में बहुत बड़ा हाथ है। जिस प्रकार द्विवेदी-युग के हिन्दी के कवियों ने खड़ीबोली की सत्ता
र खड़ीबोली

के परिष्कार और अलंकृति में अपूर्व सहयोग दिया था, उसी प्रकार सूरदास ने भी ब्रज भाषा के पूर्व रूप के होते हुए भी उसे सवारा और सजाया। यद्यपि सूरदास के पूर्ववर्ती कवियों—अमीर खुसरो, नामदेव, कबीर, गुरु नानक आदि ने भी ब्रज भाषा में अपनी रचनायें रची, किन्तु भाषा का वह रूप व्यवस्थित एवं साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रज भाषा को परिष्कृत एवं अलंकृत रूप में प्रयुक्त किया है। वे ही ब्रजभाषा के इस प्रकार के व्यवस्थित एवं साहित्यिक रूप के जन्मदाता माने जाते हैं।

भाव-पक्ष

किसी भी कवि की भाषा का अध्ययन भावों के साथ रख कर करना ही श्रेयस्कर होता है क्योंकि इसके अतिरिक्त ऐसा और कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं होता जिसके बल पर यह प्रमाणित किया जा सके कि भाषा तथा भाव अलग-अलग रख कर देखे जा सकते हैं। अभिव्यक्ति तो वास्तव में एक अखण्ड वस्तु है। यदि कोई कवि भाषा के ही नये-नये प्रयोग करता है तो वह भाषा-क्रीडा ही कही जायेगी, उसे काव्य-सृजन कदापि नहीं कहा जा सकता। काव्य-सृजन में मानसिक हलचल का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसी के अनुसार शब्द अपने आप उतरते चले आते हैं, किन्तु जो कवितायें बिना किसी आवेश के लिखी जाती हैं अर्थात् ठण्डी होती हैं, उनमें अभिव्यक्ति की सरलता से पृथक् किया जा सकता है। महाकवि सूरदास चेतना के क्षोभ को वाणी देने वाले कवि हैं। वे केवल भाषा के प्रयोक्ता नहीं कहे जा सकते। यदि कोई उनकी भाषा का लाघव, लोच, गम्भीरता चपलता तथा व्यंग्यशक्ति देखना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम गोपियों की मानसिक स्थितियों को देखना पड़ेगा कि किस प्रकार अनुकूल भाव को तदनुरूप शब्दावली अपने आप मिल गई है। यह गुण सूर की भाषा में भ्रमरगीत में विशेष रूप से लक्षित होता है।

सूर महाकवि थे और महान् हृदयपारखी थे। अतः भावना के स्तर के अनुसार भाषा के कई रूपों का प्रयोग करने में वे समर्थ हुए हैं। उदाहरण तथा

हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।
'सूरदास' कैसे करि जीवें, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोपियों की करुण दशा के वर्णन में कवि की उसी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति है जो विनय के पदों में उन्होंने करुणानिधान हरि की कृपा-याचना करते हुए प्रकट की थी। हाँ, एक अन्तर अवश्य उल्लेखनीय है। वह अन्तर यह है कि उस समय सूर को पूर्ण विश्वास नहीं था कि करुणानिधान कृष्ण उन्हें अपना सकेंगे। वह उस समय उनसे यथेष्ट दूरी का अनुभव करता था, किन्तु अब वह बात नहीं रही। अब उन्हें गोपियों के रूप में कृष्ण के साथ घनिष्ठ आत्मीयता का अनुभव हो गया है। कहें तो कह सकते हैं कि उन्हें धृष्टता का एक अधिकार सा प्राप्त हो गया है। वे अब कृष्ण से स्पष्ट और खरी बातें करने में समर्थ हैं। यही कारण है कि अब उनके दैन्य में अविश्वास एवं निराशा नहीं है। वह दैन्य वस्तुतः प्रेम की चरम स्थिति का प्रकाश है। प्रेम की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् तो विरह की करुणा भी एक प्रकार का सुख देने वाली होती है।

अतः निश्चित है कि दैन्य भाव सूरदास के मानस का एक स्थायी भाव है जो उनकी श्रद्धा, विनयशीलता, भक्ति-भावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है।

प्रश्न १५—'सूर का भाषाधिकार' शीर्षक निबन्ध लिखिये।

महाकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' की भाषा ब्रज भाषा है जो हिन्दी का ही एक विशिष्ट रूप है। यदि हम सूरदास की शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा के पूर्व की राजस्थानी से मिश्रित ब्रज भाषा के विकास पर एक दृष्टि डालें तो कहना पड़ेगा कि सूर किसी ब्रज भाषा की अज्ञात परम्परा में अवतीर्ण हुए थे, किन्तु उनका इसके परिष्कार और अलंकृति में बहुत बड़ा हाथ है। जिस प्रकार द्विवेदी-युग के हिन्दी के कवियों ने खड़ीबोली की सत्ता पहले से रहने पर भी, खड़ीबोली में ही अपनी रचनायें रची थीं और खड़ीबोली

नींद न परति, चहुं दिस चितवति, विरह अनल के दाहे।
उरतें निकसि करत क्यों न सीतल, जो पै कान्ह यहां है।"

इसी प्रकार सूक्ष्म मानसिक स्थितियों के अनुरूप भाषा अनेक स्थलों पर देखी जा सकती है। शब्दों की पुनरावृति तथा सम्बोधनात्मक 'रे' द्वारा भ्रमर को उडाने का कवित्वपूर्ण विधान तथा साथ-साथ माधुर्य इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

"जा जा रे भौंरा ! दूर दूर !
रंग रूप और एकहि मूरति, मेरो मन कियो चूर-चूर॥"

इसी प्रकार 'कै' का प्रयोग कर आत्महत्या के प्रयोग बताते हुए निम्न-लिखित पंक्तियों में शब्दावली अत्यन्त करुण हो गई है—

"अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुनि री सखी ! श्यामसुन्दर बिन, बांटि विसम बिस पीजै॥
कै गिरिए गिर चढ़ि कै सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, कै तो जाय जमुन धँसि लीजै।"

कहाँ तक उदाहरण दिये जांय 'सूरसागर' में सूक्ष्म मानसिक स्थितियों के तदनुरूप भाषा के उदाहरण भरे पड़े हैं। प्रत्येक प्रबल मानसिक स्थिति के वर्णन में सूर की भाषा का रूप भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है, किन्तु भिन्न होते हुए भी उसमें एकरूपता विद्यमान है जिसका एक मात्र कारण है सभी मानसिक स्थितियों में सूत्रवत् पिरोई गई 'प्रिय विषयक रति'। सूर की भाषा का चमत्कार तभी समझ में आ सकता है जबकि इस स्थायी भाव को पुष्ट करने वाली अनेक भावों की तरंगों को स्पष्टतः अलग अलग पहचान लिया जाय।

'रि' का प्रयोग

ब्रज भाषा के प्रयोग में सूर की कुछ विशेषतायें और द्रष्टव्य हैं। वैदिक 'ऋ' के स्थान पर 'रि' 'र' का प्रयोग कर सूर ने भाषा को कोमल बनाने का

विद्रुप करते समय उनकी भाषा भी व्यंग्यमयी और चपल हो जाती है सामान्य बोलचाल के शब्दों के प्रयोग की ऐसे प्रसंगों में अधिकता रहती है निम्नलिखित उदाहरण प्रमाण के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

"ऊधो, जाहु तुम्हें हम जानें।
स्याम तुम्हें ह्यां नाहिं पठाये, तुमहिं बीच भुलाने।"
× × × ×
"ऊधो, भली करी तुम आये।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हंसाये॥"
× × × ×
"कहौ कहां ते आये हौ।
जानति हौं अनुमान मनो तुम, जादव नाथ पठाये हौ॥"
× × × ×
"ऊधो जान्यौ ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राज गति लीला, अन्त अहीर विचारो॥"

इसी प्रकार भावातिरेक-प्रधान स्थलों की भाषा में कवि संस्कृत प्रधान तत्सम शब्दावली का प्रयोग नहीं करता, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा कवि के अन्तस् से निकल रही है और उसमें कोमलता अधिक बढ़ जाती है। व्यंग करते समय जो खीझ और झल्लाहट दिखाई पड़ती है वह यहाँ दीनता, विवशता और अवसाद में परिवर्तित हो जाती है। मानसिक स्थिति के अनुसार मानो भाषा भी दीन, विवश और अवसादमयी हो गई है—

"काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पै मधुकर कहत हमारे, गोकुल काहे न आवत॥"
× × ×
"ऊधो ! वह दिन लागे काहे ?
निस दिन नयन तपत दरसन को, तुम को कहत हिय-माहे।

नींद न परति, घहुँ दिस चितवति, विरह अनल के दाहे।
उरतें निकसि करत क्यों न सीतल, जो पै कान्ह यहाँ है।"

इसी प्रकार सूक्ष्म मानसिक स्थितियों के अनुरूप भाषा अनेक स्थलों पर देखी जा सकती है। शब्दो की पुनरावृति तथा सम्बोधनात्मक 'रे' द्वारा भ्रमर को उड़ाने का कवित्वपूर्ण विधान तथा साथ-साथ माधुर्य इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

"जा जा रे भौंरा ! दूर दूर !
रग रूप और एकहि मूरति, मेरो मन कियो चूर-चूर ॥"

इसी प्रकार 'कै' का प्रयोग कर आत्महत्या के प्रयोग बताते हुए निम्न-लिखित पंक्तियो मे शब्दावली अत्यन्त करुण हो गई है—

"अब या तनहि राखि का कीजै।
सुनि री सखी ! श्यामसुन्दर बिन, बांटि विसम बिस पीजै ॥
कै गिरिए गिर चढ़ि कै सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, कै तौ जाय जमुन धंसि लीजै।"

कहाँ तक उदाहरण दिये जाँय 'सूरसागर' मे सूक्ष्म मानसिक स्थितियो के तदनुरूप भाषा के उदाहरण भरे पड़े हैं। प्रत्येक प्रबल मानसिक स्थिति के वर्णन में सूर की भाषा का रूप भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है, किन्तु भिन्न होते हुए भी उसमें एकरूपता विद्यमान है जिसका एक मात्र कारण है सभी मानसिक स्थितियों मे सूत्रवत् पिरोई गई 'प्रिय विषयक रति'। सूर की भाषा का चमत्कार सभी समझ में आ सकता है जबकि इस स्थायी भाव को पुष्ट करने वाली अनेक भावों की तरंगो को स्पष्टतः अलग अलग पहचान लिया जाय।

'रि' का प्रयोग

ब्रज भाषा के प्रयोग में सूर की कुछ विशेषतायें और दृष्टव्य हैं। वैदिक 'ऋ' के स्थान पर 'रि' 'र' का प्रयोग कर सूर ने भाषा को कोमल बनाने का

प्रयास किया है। उन्होंने इसी हेतु स्वरों का प्रयोग भी किया है। अनुनासिकता से उत्पन्न कोमलता इन पंक्तियों में देखिये—

"कहौं लौं सुख आपनो समाऊं,
कर कंकन ते भुज ठौर भई।
कब ते ह्वै अंगु पै न गई,
ऐसो सुमिरत हूं ह्वै सावन ॥१"

ध्वन्यार्थमूलक शब्दों का प्रयोग

ध्वन्यार्थ मूलक शब्दों का प्रयोग भी सूर की भाषा की एक विशेषता है। ध्वनि-अनुकरण मूलक शब्दों का प्रयोग 'सूरसागर' में देशज शब्दों से कहीं अधिक मिलता है। सूर ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। विशेष रूप से ऐसा प्रयोग वहाँ दिखाई देता है जहाँ वे भागवत का आधार अधिक लेते हैं। एक उदाहरण देखिये—

"पानि-पल्लव-रेख गनि गुन-अवधि विधि बंधान।
चन्द्र कोटि प्रकास मुख, अवतंक कोटिक भान ॥
कोटि मन्मथ वारि छवि पर, निरखि दीजति दान।
भृकुटि कोटि कोदंड रुचि, अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज बंक नयन, कटाच्छ कोटिक बान।"

तत्सम शब्दावली का प्रयोग कवि वहीं अधिक करता है जहाँ उसे चित्रण करना होता है। जहाँ वह भाव-प्रवाह मे प्रवाहित होता है वहाँ तत्सम-शब्दावली का प्रयोग कम होता चला जाता है।

श्री प्रेमनारायण टंडन ने ठीक ही लिखा है कि सूर में स्वर-सन्धि प्रधान शब्द ही अधिक मात्रा मे मिलते हैं। व्यंजन सन्धि तो अपवाद रूप में ही है। सूर ऐसे शब्दो के प्रयोग से प्रायः अलग ही रहने का प्रयास करते हैं जो भाव-प्रवाह के मध्य बाधा बन कर काव्य की प्रेषणीयता को हानि पहुँचाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस शब्द से सौन्दर्य में वृद्धि होती है, सूर ने परिस्थिति और भाव के अनुसार उसी शब्द का प्रयोग किया है। सूर ने विदेशी शब्दों जैसे अरबी, फारसी आदि को भी ग्रहण किया है, किन्तु मधुर बनाकर। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

> "कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
> यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै, मदन मिलिक करि आई।
> घन धावन, बगपाति पटोसरि, बैरख तड़ित सुहाई॥"
> यहां मिलिक' शब्द अरबी भाषा का है।

कहावतें एवं मुहाविरे

कहावतों एव मुहावरो का काव्य मे एक विशेष महत्व है। इनके प्रयोग से काव्य शिक्षित और सामान्य जन सभी की वस्तु बना रहता है। वह व्यवहारिक जीवन से दूर जाकर नही पडता। सभी उसे हृदयगम कर सकते हैं। उदाहरण के लिए छायावादी और प्रयोगवादी काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग नहीं मिलता, क्योंकि जनता के व्यावहारिक जीवन से बहुत दूर जा पड़े हैं। रीतिकाल की अलंकृत शैली मे भी इनका प्रयोग कम मिलता है। रीतिकालीन आचार्यों ने तो 'लोकोक्ति' को एक अलंकार के रूप मे परम्परा-निर्वाह के लिए ही प्रयुक्त किया है, किन्तु सूर ने लोकोक्तियों का बहुत अधिक प्रयोग किया है जिससे उनकी भाषा में सजीवता आ गई है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

> हमारे हरि हारिल की लकरी।'
> × × ×
> 'बिना भीति तुम चित्र लिखत हो।'
> × × ×
> 'कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात।'
> × × ×

"जोग हमारी ब्रज न बिकैहैं।'
दाख छांडि कै कटुक निबोरी, को अपनो मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल देहैं।"

× × ×

'छठी आठें मोहि कान्ह कुंवर सों।

× × ×

'दाई आगे पेट दुरावति पाँव की सात लगायो झूठि।"

× × ×

कहुँ लट पद, कैसे खेंयतु है हाथिन न संग सांई।
काकी भूख गई बयारि भख, बिना दूध घृत माँड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत, धनियां, धान, कुम्हाड़े ॥"

अलंकारों का प्रयोग

अलंकारों के निर्वाह में भी भाषा का चमत्कार दिखाई देता है। इनसे भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि होती है। सूरदास जी ने अलंकारों में यमक, अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति आदि कुछ अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया है। इनमें भी उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में दिखाई देता है। इनकी उपमायें यदि भावचित्र प्रत्यक्ष उपस्थित कर देती हैं तो इनके उत्प्रेक्षा के प्रयोग में कल्पना की नवीनतम देखते ही बनती है। किसी भी कवि का भाषा पर अधिकार सांगरूपक के निर्वाह में दिखाई दे जाता है। सूर ने कितने ही पदों में सांगरूपक का सुन्दर निर्वाह दिखाया है। सूर की अलंकार-योजना के कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा—'जोग हमें ऐसो लागत, ज्यों तोहि चंपक फूल।'

'अब मन भयो सिन्धु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन।'

उत्प्रेक्षा—"कढ़ियो मन्द कठोर भये।
हम दोऊ बीरें डारि घर-घर मानो दाती सौंपि गये॥'

'रतन जटित कुंडल श्रवननि कर गंड कपोलनि झाँई ।
मनु दिनकर-प्रतिबिम्ब मुकुर महं ढूंढ़त यह छवि पाई ॥"

साँग रूपक—

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी ।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी ॥
मुरली मधुर चेंप कर कांपो, मोर चन्द ठटवारी ।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस, सकी न तनहि सम्हारी ॥
तलफत छांड़ि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार ।
सूरदास वा कलपत तरोवर, फेरि न बैठी डार ॥"

शब्द शक्ति

वास्तव में सूर की भाषा अर्थ गाम्भीर्य से पूर्ण है। उसमें लक्षणा और व्यंजना का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। यथा—

१. रूढ़ि लक्षणा—

'आए जोग सिखावन पांड़े ।
काकी भूख गई बयारि भखि,.बिना दूध घृत मांड़े ।
सूरदास तीनों नहीं उपजित, धनियां, धान, कुम्हाड़े ॥

२. गौरव प्रयोजनवती लक्षणा—

मुरली मधुर चेंप कर कांपो, मोर चन्द्र ठटवारी ।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस, सकी न तनिह सम्हारी ॥"

३. शुद्ध प्रयोजनवती लक्षणा—

'ऊधो ! तुम सब साथी मोरे ।
ये अक्रूर क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे ॥"

उपादान लक्षणा—'सूर यहाँ लौं स्यामागत हैं जिनसों क्यों कीजिये लगाव।'
लक्षण लक्षणा—'यह तन जरि कै भस्म ह्वै निबरयौ, बहुरि मसान जगायो।'
सारोपा लक्षणा—'तुम्हरे विरह, ब्रजनाथ अहोप्रिय नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोऊ एते मान चढ़ि।
गोलक नव नौका न सकत चलि, स्यौं सरकनि बढ़ि बोरति।
ऊरध स्वास समीर तरंगन तेज तिलक तरु तोरति॥'
साध्यवसाना लक्षणा—'अच्छे कमल-कोष रस लोभी, द्वै अलि सोच करे।
कनक बेलि मो नवदल के ढिग बहते उझकि परे॥'

अभिधामूला व्यंजना—'रहु रे मधुकर ! मधुतम बारे।'
लक्षणमूला व्यंजना—'ऊधो ! भलो करी अब आये।'

इस प्रकार हमने देखा कि सूर का भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी कविता के अधिकांश विषय वात्सल्य एवं शृंगार सम्बन्धी हैं अतः उनके काव्य मे ओज की अपेक्षा प्रसाद एवं माधुर्य गुण ही अधिक परिमाण में प्राप्त होता है। अतः इनके काव्य मे कोमलकान्त पदावली का ही बाहुल्य दिखाई देता है। सूरदास की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि वे भावों के अनुकूल ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। शब्द-चयन में सूर बहुत ही कुशल हैं। जो शब्द उन्होंने जहाँ बैठा दिया इसके स्थान पर कोई भी उसका पर्यायवाची शब्द उतना ठीक नही बैठ सकता। उससे स्पष्ट है कि उनका भाषा पर असाधारण अधिकार था। सार्थक शब्द योजना वस्तुतः सूर की भाषा की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

धारावाही प्रवाह

उनकी भाषा की एक अन्यतम विशेषता है उसका धारावाही प्रवाह जो संगीत और ताल के संयोग के कारण और भी चमक उठा है। उनकी भाषा निःसन्देह रूप में अत्यधिक बलवती एवं सजीव कही जा सकती है। भावों के

अनुरूप विशिष्ट शब्दावली तथा मुहावरे एवं लोकोक्तियों के प्रयोग ने भाषा में जो प्रवाह एवं सजीवता उत्पन्न कर दी है, उससे सूर का भाषा विज्ञ होना तो प्रमाणित होता ही है, उनका भाषा पर असाधारण अधिकार भी दृष्टिगत होता है।

महात्मा सूरदास कवि होने के साथ साथ भक्त और कथावाचक के रूप में भी हमारे सम्मुख आते हैं। कथावाचक के रूप में उनकी भाषा का वह साहित्यिक रूप नहीं है जो कवि रूप में दृष्टिगत होता है। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा—

"भारत युद्ध जीतब जब भयो।
दुर्योधन अकेल तहाँ रह्यो॥
अश्वत्थामा तापै आई।
ऐसो भांति कह्यो समुझाई॥
हमसों तुम सों बाल मिताई॥
हमसों कछु न भई भलाई॥"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ सूर का भाषा पर असाधारण अधिकार प्रदर्शित नहीं करतीं, किन्तु जहाँ सूर ने भक्त तथा कवि रूप में भाषा का प्रयोग किया है वहाँ वे निश्चत रूप में भाषा के महान् शिल्पी सिद्ध होते हैं। 'सूरसागर' में सूर भक्त और कवि रूप मे ही हमारे सम्मुख आते हैं। अतः उन्हें भाषा की दृष्टि से भी महान् पंडित ही माना जायगा। यदि ऐसा नहीं है तो फिर भी एक ही लीला पर अनेक पद होते हुए भी सरसता किस प्रकार बनी रहती है? पाठकों को अरुचि क्यों नहीं होती? स्पष्ट है कि सूर का व्रज भाषा पर असाधारण अधिकार था। ब्रजभाषा सूर के प्रति सदैव कृतज्ञ रहेगी

प्रश्न १६—'सूर ने मानव-सौंदर्य का जैसा अपूर्व चित्रण किया है, वैसा किसी अन्य कवि ने नहीं।' इस कथन की समीक्षा कीजिये।

हिंदी के प्रसिद्ध एवं ग्रमर काव्य 'सूरसागर' में महाकवि सूरदास ने मानव-सौंदर्य के ग्रसंख्य रूप-चित्र चित्रित किये हैं। इन रूप-चित्रों में कवि की भावना, कल्पना, कला कुशलता और शैली का चमत्कार सब एक साथ व्यक्त हुआ है। महात्मा सूर के इष्टदेव श्रीकृष्ण हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक के असंख्य रूप-चित्र उतारे हैं जिनमें कवि की चित्रण-कुशलता देखते ही बनती है।

रूप चित्रण

भगवान् कृष्ण घुटनों चलते हुए नन्द के ग्रांगन में खेलते फिरते हैं। सिर पर वे अनेक रंगों की कुलहि धारण किये रहते हैं। उनके कपोलों पर उनकी घुंघराली लटें लटक रही हैं। ग्ररुण, श्वेत, पीत और नीले रंग का लटकन माथे पर सुशोभित है। वे जब किलक कर हसते हैं तो उनके दूध के छोटे-छोटे श्वेत दाँत चमक जाते हैं जो अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते हैं। कभी कभी तुतला कर वे खंडित शब्द और वाक्य बोलते हैं। घुटनों चलने के कारण उनका शरीर धूल से सना रहता है जो और भी आकर्षक प्रतीत होता है। वात्सल्य की भावना को उद्दीप्त करने के हेतु शिशु का यह सरल चित्रण भी कम प्रभावशाली नहीं है, किन्तु महाकवि सूर की सौन्दर्यानुभूति ने प्रकृति के सौन्दर्य-भण्डार से अनेक उपकरण जुटा-कर इसे और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है। एक चित्र देखिये—

> "कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
> खेलत कुंवर कनक ग्रांगन में नैन निरखि छवि पाई॥
> कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर कै बहु विधि सुरंग बनाई।
> मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
> ग्रति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई।
> मानौ प्रगट कंज पर मंजुल ग्रलि-ग्रवली फिरि ग्राई॥
> नील, सेत, ग्ररु पीत, लालमनि लटकन भाल रुलाई।

सनि गुरु- असुर, देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ।।
दूध-दंत दुति कहि न जात कछु, अद्भुत उपमा पाई ।
किलकति-हसंत दुरति, प्रगटति मन, घन में बिज्जु छटाई ।।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप अलप जल पाई ।
घुटुरवनि चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाई ।।"

दिन-दिन बढ़ते हुए श्रीकृष्ण की अगणित अवस्थाओं, असंख्य परिस्थितियों तथा अनेक प्रकार के मनोहर प्रसंगों की कल्पना करके महाकवि सूर ने इसी प्रकार के सुन्दर चित्र उतारे हैं । पालने में झूलने, हंसने, किलकने, माता का हाथ पकड़ कर लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ने, नाचने, माखन के लिए झगड़ने, चन्द्रमा के लिए हठ करने, बालवृंद के साथ खेलने, वन से वापिस आने आदि अनेक परिस्थितियों में कृष्ण के बाल-रूप की अद्भुत शोभा के अनेकों जगमगाते और बोलते शब्द-चित्र महाकवि सूर ने उतारे हैं । इन चित्रणों में सूर की सौन्दर्यासक्ति का प्रकटीकरण उत्कृष्ट रूप में हुआ है, किन्तु उनकी यह सौन्दर्यासक्ति किसी भी दशा में भावों के आश्रय से बाहर नहीं निकली है । ऊपर जैसे प्रसंगों के चित्रण में कवि ने अधिकांश रूप में वात्सल्य का उद्रेक किया है । इसका एकमात्र कारण यह है कि कृष्ण के रूप-दर्शन में कवि के हृदय में यशोदा, नन्द आदि का भाव ही निहित रहता है । शैशव के एक चल-चित्र के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

"जसुमति दधि मथन करति, बैठी बर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हसंत नाहि दंतियनि छबि छाजै ।
चितवत चित लै चुराइ, शोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन हरन-काज मोहिनी दल साजै ।
जननि कहति नाचो तुम देहौं
रुनुक झुनुक चलत पाइ नूपुर-धुनि
गावत गुन सूरदास, बाढ्यौ

हिंदी के प्रसिद्ध एवं अमर काव्य 'सूरसागर' में महाकवि सूरने मानव-सौंदर्य के अगण्य रूप-चित्र चित्रित किये हैं। इन रूप-चित्रों में कवि भावना, कल्पना, कला कुशलता और शैली का चमत्कार सब एक साथ स हुआ है। महात्मा सूर के इष्टदेव श्रीकृष्ण हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव लेकर वियोगावस्था तक के अगण्य रूप-चित्र उतारे हैं जिनमें कवि की चित्र कुशलता देखते ही बनती है।

रूप चित्रण

भगवान् कृष्ण घुटनो चलते हुए नन्द के आँगन में खेलते फिरते हैं। सि पर वे अनेक रंगो की कुलहि धारण किये रहते हैं। उनके कपोलों पर उन घुंघराली लटें लटक रही हैं। अरुण, श्वेत, पीत और नीले रंग का लट माथे पर सुशोभित है। वे जब किलक कर हंसते हैं तो उनके दूध के छोटे-छो श्वेत दाँत चमक जाते हैं जो अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते हैं। कभी कभी तुत कर वे खंडित शब्द और वाक्य बोलते हैं। घुटनों चलने के कारण उनक शरीर धूल से सना रहता है जो और भी आकर्षण प्रतीत होता है। वात्स की भावना को उद्दीप्त करने के हेतु शिशु का यह सरल चित्रण भी क प्रभावशाली नहीं है, किन्तु महाकवि सूर की सौन्दर्यानुभूति ने प्रकृति के सौन्दर्य-भण्डार से अनेक उपकरण जुटा-कर इसे और भी अधिक प्रभावशा बना दिया है। एक चित्र देखिये—

"कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुंवर कनक आँगन मैं नैन निरखि छवि पाई॥
कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर कैं बहु बिधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई॥
नील, सेत, अरु पीत, लालमनि लटकन भाल लवाई।

सनि गुरु- असुर, देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ।।
दूध-दंत दुति कहि न जात कछु, अद्भुत उपमा पाई ।
किलकति-हसंत दुरति, प्रगटति मन, घन में बिज्जु छटाई ।।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप अलप जल पाई ।
घुटुरवनि चलत रेनु तन मंडित सूरदास बलि जाई ।।"

दिन-दिन बढ़ते हुए श्रीकृष्ण की अगणित अवस्थाओं, असंख्य परिस्थितियों तथा अनेक प्रकार के मनोहर प्रसंगों की कल्पना करके महाकवि सूर ने इसी प्रकार के सुन्दर चित्र उतारे हैं। पालने में झूलने, हसने, किलकने, माता का हाथ पकड़ कर लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ने, नाचने, माखन के लिए झगड़ने, चन्द्रमा के लिए हठ करने, बालवृंद के साथ खेलने, वन से वापिस आने आदि अनेक परिस्थितियों में कृष्ण के बाल-रूप की अद्भुत शोभा के अनेकों जगमगाते और बोलते शब्द-चित्र महाकवि सूर ने उतारे हैं। इन चित्रणों में सूर की सौन्दर्यासक्ति का प्रकटीकरण उत्कृष्ट रूप मे हुआ है, किन्तु उनकी यह सौन्दर्यासक्ति किसी भी दशा मे भावों के आश्रय से बाहर नहीं निकली है। ऊपर जैसे प्रसंगों के चित्रण मे कवि ने अधिकांश रूप में वात्सल्य का उद्रेक किया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि कृष्ण के रूप-दर्शन में कवि के हृदय मे यशोदा, नन्द आदि का भाव ही निहित रहता है। एक चल-चित्र के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी

"जसुमति दधि मथन करति, बैठी बर
ठाढ़े हरि हसंत नहि बेंलियनि
चितवन चित लै
मनु

कृष्ण की मोहिनी छवि का सर्वाधिक प्रभाव उन गोपियों पर पड़ा जो मधुर अथवा कांता रति से प्रेरित हैं। कृष्ण के जिस बाल-रूप से यशोदा तथा अन्य वयस्क नर नारियों के हृदय में वात्सल्य का उद्रेक है, उसी रूप से किशोरियों और नवोढ़ाओं के हृदय में दाम्पत्य भाव जागरण होता है। एक नव-वधू अपना अनुभव सुना रही है—

> "आजु गई हौं नन्दभवन मैं, कहा कहूँ गृह चैन री।
> चहूँ ओर चतुरंग लच्छमी कोटिक दुहयत धेन री॥
> घूमि रहीं जित तित दधि मथनी सुनत मेघ-धुनि लाजे री।
> बरनौं कहा सदन की सोभा, बैकुंठहूँ तें राजे री
> बोलि लई नव वधू जानि कहूँ, खेलत कुँवर कन्हाई री
> मुख-देखत मोहिनी सी लागे, रूप न बरन्यौ जाई री॥"

महाकवि सूरदास ने कृष्ण के रूप को चित्रित करने के लिए अपनी प्रख कल्पना शक्ति द्वारा प्रकृति के सौंदर्य-कोष में से भी अनेक उपमान खोज निकाले हैं जिनसे चित्रण में और भी कलात्मकता का समावेश हो गया है एक उदाहरण दृष्टव्य है—

> "लटकन लटकि रहे भ्रू ऊपर, रंग रंग मनि गन मोहे री।
> मानहुँ गुरु सनि सुक एक ह्वैं, लाल भाल पर सोहे री॥
> गोरोचन को तिलक, निकट की कजर बिंदुका लाग्यौ री।
> मनौ कमल कौ पी पराग, अलि सावक सोइ न जाग्यौ री॥
> बिधु आनन पर दीरघ लोचन नासा लटकत मोती री।
> मानौ सोम संग करि लीने जानि आपने गोती री॥
> सीपज माल स्याम उर सोहै बिच बघ नह छबि पावै री।
> मनौ द्वैज ससि नखत सहित है उपमा कहत न आवै री॥"

इतने उपमानों की झड़ी लगाने के बाद भी सूरदास जी को यही प्रतीत

होता है कि अभी कृष्ण की रूप-राशि का एक अंश भी पूर्णतया प्रगट नहीं हो पाया है। उनकी दशा इस समय उस चोर के सदृश हो रही है जो भरे घर में खड़ा-खड़ा यह सोच रहा है कि क्या उठाया जाए और क्या छोड़ दिया जाय। देखिये, कवि क्या कह रहा है—

> "सोभा सिंधु अंग अंगनि प्रति, बरनत नाहिन ओर री।
> जित देखौं मन भयो तितहिं कौ मनौ भरे को चोर री।।
> बरनौं कहा अंग अंग सोभा, भरी भाव-जल रास री।
> लाल गोपाल बाल छवि बरनत कवि कुल करि है हास री।।
> जो मेरी अंखियन रसना होती कहती रूप बनाइ री।
> चिरजीवहु जसुदा को ढोटा, 'सूरदास' बलि जाइ री।।"

मानव-सौन्दर्य

महात्मा सूरदास ने श्रीकृष्ण के रूप में मानव सौंदर्य की श्रेष्ठ कल्पना उपस्थित की है। श्रीकृष्ण का रंग श्याम है और हमारे देश में श्याम वर्ण सौंदर्य और आकर्षण का प्रतीत माना जाता है। कृष्ण के शरीर का प्रत्येक अंग अत्याधिक आकर्षक है। उनके नख अत्यन्त चमकीले हैं, उनके चरण अरुण रंग के हैं, उनके जानु एवं जंघाएँ मांसल हैं और ऊपर से नीचे को ओर क्रमशः पतली होती चली जाती हैं। उनकी कमर क्षीण है और आकर्षक नाभिस्थल से वक्ष तक विस्तीर्ण काली रोम राशि इनके पौरुष की प्रतीक है। उनकी भुजायें विशाल हैं और उनके हाथ कमल के सदृश कोमल और अरुण हैं। उनकी उंगलियाँ पतली एवं सुन्दर हैं, उनकी ग्रीवा, चिबुक, नासिका, अधर आदि सभी सौंदर्ययुक्त हैं। उनके दाँत अत्यन्त श्वेत और चमकीले हैं और उनके नेत्र अत्यन्त विशाल, नुकीले एवं चंचल हैं। उनकी भृकुटियां धनुषाकार हैं तथा उनका भाल अत्यन्त विशाल है। उनके कपोल अत्यन्त सुन्दर हैं तथा उनकी पलकें घुंघराली और अत्याधिक काली हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका शरीर अद्भुत सुन्दर है। इतने सुन्दर शरीर पर जब वे वस्त्राभूषण आदि

धारण कर लेते हैं तो उनका सौंदर्य और भी अधिक बढ़ जाता है। सिर पर मोर-पंखों का मुकुट, कानों में मकराकृत कुंडल, कंठ में कठुला तथा मुक्ताओं, गुंजा आदि धातुओं, केहरि नखों तथा वनफूलों आदि की मालायें, कटि में पीत वस्त्र, शरीर पर पीत पिछौरी, कमर मे किंकिणी, हाथों में पहुँचियाँ, भाल पर कभी तिलक, कभी काजल-रेखा और कभी चंदन, भुजाओं और वक्षस्थल पर चंदन के चित्र, उंगलियों में मुद्रिकायें तथा समस्त शरीर अंगरागों से सुवासित रहता है। उनके अधर पर मुरली विराजती है तथा वे त्रिभंगी रूप में खड़े रहते हैं तब के सौंदर्य का तो कहना ही क्या ?

उपर्युक्त प्रकार का श्रीकृष्ण का यह रूप जो सूर ने चित्रित किया है सहज ही आकर्षक और मनमोहक है। यह एक दूसरी बात है कि श्रीकृष्ण की यह वेशभूषा आधुनिक समाज की रुचि के समक्ष ग्राम्य एवं अत्यन्त असंस्कृत समझी जायेगी, किन्तु कृष्ण का सौंदर्य तो वास्तव में इस बात में है कि वह महात्मा सूर की कल्पना को इतना संवेदित कर देता है कि वे समस्त विश्व का रूप सौंदर्य एकत्रित करके ले आते हैं। कवि जो सौंदर्य अपनी आँखों से देखता है, अपने कानों से सुनता है और जो कुछ कहीं उसने काव्य में पढ़ा है सभी को लाकर कृष्ण सौंदर्य पर बलिदान कर देता है किन्तु फिर भी वह संतोष नहीं पाता। उसे यही अनुभव होता रहता है कि उसने कुछ नहीं कहा। वह उस सौन्दर्य को देखने के लिए न तो अपने पास नेत्र ही पाता है और न उसका वर्णन करने के लिए शब्द। कृष्ण का सौंदर्य तो एक सागर के सदृश अनन्त है, अपार है, लोकातीत है, बुद्धि और विवेक की शक्ति के बाहर है—

"देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर।
तनु अति स्याम अगाध अंबु निधि, कटि पट पीत तरंग॥
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भंवर परति सब अंग।
नैन मीन, मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग॥

कनक-खचित मनिमय ग्राभूषण, मुखस्रम कन सुख देत ।
जनुजल निधि माथे प्रगट कियौ ससि, श्री ग्रद सया समेत ।।
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं बिचारि बिचारि ।
तदपि 'सूर' तरि सकी न सोभा, रहीं प्रेम पचिहारि ।।"

ग्रलंकारों के द्वारा

कहाँ तक कहें, सूरदास कृष्ण के सौंदर्य को एक सागरूपक के द्वारा कहना चाहते हैं। उपमेय मे उपमान से जो अधिक और विलक्षणता है उसे कवि व्यतिरेक और उत्प्रेक्षा के सहारे सूचित करते हैं, किन्तु फिर भी वे उनके सौन्दर्य का वर्णन नही कर पाते। कवि की चित्रण-कुशलता, ग्रलकार-विधान-चातुर्य तथा शैली की व्यंजकता की सराहना का क्या ? सराहना तो हमें उस भाव की करनी चाहिये जिसके वशीभूत होकर वे यह कहते हैं कि कृष्ण का रूप-लावण्य देखकर गोपियाँ चकित हैं। कृष्ण का अंग प्रत्यंग गोपियों के मन को लुभाने वाला है—

"सखनी निरखि हरि-प्रति अंग ।
कोउ निरखि नख इन्दु भूली कोउ चरन जुग रग ।।
कोउ निरखि नूपर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु ।
कोउ निरखि युग जंघ सोभा करति मन अनुमानि ।।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि ।
कोउ निरखि हृद नाभि की छवि डारयौ तन मन वारि ।।"

इतना ही नही, अग प्रत्यंग की शोभा प्रति क्षण बदलती रहती है। जो रूप क्षण क्षण परिवर्तनशील हो, भला उसे पहचाना भी किस प्रकार जा सकता है—

"सखी री सुन्दरता को रंग ।
छिन छिन माँहि परत छवि औरे, कमल नैन के अंग ।।

वरिमिन करि राख्यो बाहुनि ह्वै, लागी डोलती संग ।
चलत निमेष विसेष जानियत, भूलि भई मति भंग ।
स्याम सुभग के ऊपर वारौं, आली कोटि अनंग ।
सूरदास कछु कहत न आवै भइ गिरा गति पंग ॥"

राधा का सौन्दर्य

महाकवि सूरदास ने राधा के सौन्दर्य के भी अनेक पद रचे हैं जिनमें उन्होंने स्त्री के रूप-लावण्य के चित्रण की प्रतिमा का प्रकटीकरण किया है। कृष्ण के सौन्दर्य की भाँति राधा के सौन्दर्य में भी वही अनिर्वचनीयता तथा अलौकिकता है। कवि ने मुग्धा राधा के रूप का वर्णन विस्तार के साथ किया है। गोपियों के विषय में कवि का चित्रण सामान्य ही कहा जा सकता है, किन्तु इनके सौन्दर्य के वर्णन में भी कवि ने इनके अंग प्रत्यंग पर दृष्टि डाली है। रास के प्रसंग में कवि ने राधा का जो रूप-चित्रण किया है वह समस्त गोपियों के शृंगार वर्णन का प्रतिनिधि है। अतः रास के प्रसंग का राधा का रूप-चित्रण उद्धृत करना उपयोगी होगा—

"नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनी, जनु घन में दमकति है दामिनी।
सेस महेस, गनेस, सुकादिक. नारदादि मुनि की है स्वामिनी ॥
ससि-मुख तिलक दियौ मृगमद कौ, खुटिला खुभी जराय जरी।
नासा तिल-प्रसून बेसरि-छबि मोतियन माँग सुहाव भरी ॥
अति सुवेस मृदु चिकुर हरत चित, गूये सुमन रसालहिं।
कबरी अति कमनीय सुभग सिर, राजति गोरी बालहिं ॥
सिगरी कनक रतन मुक्तामय, लटकत चितहिं चुरावै।
मानौ कोटि कोटि सत मोहिनी, पाइनि आनि लगावै ॥
काम-कमान समान भौंह दोउ, चंचल नैन सरोज।
अलि गंजन अंजन रेखा है, बरषत बान मनोज ॥"

इस प्रकार हमने देखा कि सूर ने मानव-सौंदर्य का अपूर्व चित्रण किया है। उनसे पूर्व हिन्दी में सौन्दर्य का ऐसा चित्रण नहीं मिलता। सौन्दर्य का इतना पूर्ण एवं विशद चित्रण किसी और कवि ने नहीं किया है।

प्रश्न १३—पुष्टि मार्ग किसे कहते हैं ? सूरदास पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

श्री वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित पुष्टि-मार्ग को पूर्ण रूप से समझने के लिए शुद्धाद्वैतवाद को समझना अनिवार्य सा प्रतीत होता है क्योंकि श्री आचार्य जी का पुष्टिमार्ग इसी दार्शनिक मतवाद पर आधारित है। अतः शुद्धाद्वैतवाद पर कुछ प्रकाश डालना अनुपयुक्त नहीं होगा।

शुद्धाद्वैतवाद

यह वाद ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी की सत्ता को नहीं मानता। ब्रह्म के तीन रूप हैं—

(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस रूप, आनन्दरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण,

(२) अक्षर ब्रह्म,

(३) अंतर्यामी रूप।

अक्षर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोतम आनन्द रूप श्रीकृष्ण का धाम है। यही ब्रह्म विविध काल, कर्म, स्वभाव वाले प्रकृति जीव तथा अनेक देवी देवताओं के रूप में परिणत होकर प्रकट होता है। इसी अक्षर ब्रह्म रूपी अक्षर धाम में पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रूप में नित्य एक रस आनन्द में मग्न रहता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रीकृष्ण का कोई प्राकृत शरीर है। वे निराकार और निर्गुण हैं। निराकार और निर्गुण होते हुए भी वे सहस्त्रों चरण, सहस्त्रों हाथ तथा सहस्त्रों मुख वाले हैं। इस परब्रह्म को जब एक से अनेक होने की इच्छा होती है तो वह अपनी लीला का विस्तार कर लेता है

और माया रूपों में प्रगट हो जाता है। अतः यह चराचर सृष्टि उसके सत्‌ रूप का ही विस्तार है। चराचर प्रकृति भी ब्रह्म का ही अंश है अतः सत्य है। ब्रह्म के सत्‌ अंश के अन्तर्गत तीन गुणों—सत्व, रज और तम से ही विष्णु ब्रह्मा और महेश की उत्पत्ति होती है। ये तीनों उसी प्रकार ब्रह्म के गुणावतार कहे जाते हैं। इस ब्रह्म के अनेक अंशावतार और कलावतार होते रहते हैं। श्रीकृष्ण ऐसे ही अवतार ब्रह्म हैं।

इस वाद के अनुसार जगत् और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। जगत् यदि ब्रह्म के सत् अंश से उद्भूत हुआ है तो जीव उसके सत् और चित् अंश से। ब्रह्म का आनन्द अंश तो कभी-कभी ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार स्पष्ट है ब्रह्म और जीव तथा जड़ सृष्टि में अंशी और अंश का सम्बन्ध है। ब्रह्म ही उनका निमित्त है और वह ही उनका उपादान है। जगत् का चराचर रूप में आविर्भाव होने का कारण ब्रह्म की इच्छा ही है अतः ब्रह्म और जगत् में कार्य और कारण का संबंध है। इस वाद के अनुसार जगत् रूप में अंशतः परिणत होने के कारण ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता है। माया वाद के सिद्धान्त की भांति यह उसमें किसी अशुद्धता का आ जाना नहीं मानता। वह तो सर्दव शुद्ध रूप में ही रहता है। इसी शुद्ध रूप में यह जगत् ब्रह्म की इच्छानुसार लय होकर उसी में समा जाता है।

इस वाद के अनुसार ब्रह्म की वह इच्छा शक्ति जिससे सृष्टि का आविर्भाव होता है, माया है। ब्रह्म की माया की एक अविद्या नामक शक्ति होती है जो जगत से भिन्न संसार की उत्पत्ति करती है। इसी के द्वारा जीव में अहं भाव उत्पन्न होता है। अहम् और मम का प्रभाव जीव को मोह ग्रस्त कर देता है और उसमें द्वैत बुद्धि का जन्म हो जाता है। परिणामतः जीव अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। मोह के जाल में फँसा जीव जो कार्य करता है उसी से वह जीवन और मरण के बंधन में फँसा रहता है। जन्म-मरण के इसी चक्र का नाम संसार है। जीव की यह अविद्या भगवान् की कृपा अथवा अनुग्रह से ही

दूर हो सकती है, परन्तु यह अनुग्रह सब जीवो पर नहीं होता। जिस जीव पर ईश्वर का यह अनुग्रह होता है, वह पुष्ट जीव कहलाता है। ईश्वर के अनुग्रह से पोषित जीव ही पुष्ट जीव कहलाते हैं।

पुष्टिमार्ग

इस मार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि की परिभाषा 'कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टि' बतलाई है, अर्थात श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। भगवान् का अनुग्रह होने पर ही जीव की अविद्या का नाश होता है और वह ईश्वरोन्मुख हो जाता है। तत्पश्चात् प्रयत्न करने पर उसकी मुक्ति हो जाती है, किन्तु भगवान् का अनुग्रह भी सब पर समान नहीं होता। जितना भगवान् का अनुग्रह होगा, उतना ही जीव ईश्वर की ओर उन्मुख होगा। दूसरे शब्दों मे यही बात इस रूप में भी कही जा सकती है कि जीव के ईश्वर प्रेम की मात्रा ईश्वरानुग्रह पर निर्भर करती है। ईश्वर का अनुग्रह सब पर समान होता नहीं है, अतः कुछ जीव ईश्वर से कम प्रेम करते हैं और कुछ अधिक। इस आधार पर पुष्टि अर्थात् ईश्वरानुग्रह के मुख्यत: चार प्रकार हैं—

१. प्रवाह पुष्टि

२. मर्यादा पुष्टि

३. पुष्टि-पुष्टि

४. शुद्ध पुष्टि

इन प्रकारों में प्रथम तीन प्रकारों की भक्ति वाले जीव अर्थात् प्रवाह भक्ति वाले, मर्यादा पुष्टि भक्ति वाले तथा पुष्टि-पुष्टि भक्ति वाले—भगवान् का सानिध्य और मुक्त नहीं प्राप्त कर सकते। केवल वे ही जीव भगवान् का सामीप्य लाभ करके आनन्द प्राप्त कर सकते हैं जो शुद्ध पुष्टि भक्ति वाले हैं। जब कभी भगवान् अवतार लेते है तो भक्त भी उनकी लीलाओं को देख कर आनन्द प्राप्त करने के लिए उत्पन्न होते हैं। भगवान् की इन लोगो पर

विशेष कृपा होती है। यह कृपा वैसे ही नहीं होती, वे भक्त भी अपना सब कुछ भगवान् के लिए अर्पित कर देते हैं।

अब पुष्टिमार्ग की परिभाषायें प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। प्रसिद्ध विद्वान् श्री हरिराम जी ने पुष्टि मार्ग की विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है—

"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप प्राप्ति में साधन है अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं।"

वास्तव में—

"जिस मार्ग में भगवद् विरहावस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और ,जिस मार्ग में सर्वभावों में लौकिक विषयों का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान को समर्पण है, वह पुष्टि मार्ग कहलाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुष्टिमार्गी भक्त को ईश्वर से बहुत अधिक प्रेम हो जाता है। भगवान् के बिना भक्त को चैन नहीं प्राप्त होता। वह दिन रात भगवान् के विरह में व्याकुल रहता है।

ईश्वर-चर्चा में उसे बहुत आनन्द प्राप्त होता है। ईश्वर लीलायें उसे आनन्दित करती हैं। भगवान् के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं सुहाता। सारे सासारिक वैभव और सम्बन्ध उसे नितान्त नीरस और सारहीन प्रतीत होते हैं। प्रेम की यही अवस्था आगे जाकर इतनी तीव्रता को प्राप्त हो जाती है कि भक्त को संसार की किसी भी वस्तु से कोई मोह नहीं रहता। उसका कुछ स्वभाव ऐसा हो जाता है कि उसे संसार का कोई भी सुखद व्यापार एवं सम्बन्ध कोई रस अथवा आनन्द नही देता। वह भक्ति की परम सीमा पर पहुँच जाता है।

भक्त का भाव

अब प्रश्न यह हो सकता है कि भगवान् के प्रति उन्मुख होने के लिए भक्त में क्या भाव होना चाहिये ? साधारणतः तो इस प्रश्न का यही उत्तर है कि ईश्वर के प्रति उन्मुख होने के लिए कोई भी भाव हो सकता है। किसी भी भाव से भक्ति की जाय, यदि भक्ति मे लगन और सत्यता है तो भक्त अवश्य ही भगवान् का सामीप्य लाभ कर लेगा। भारत के सर्वप्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ 'गीता' से भी हमारे इसी मत की पुष्टि होती है। 'भागवत' में भी स्थान स्थान पर यही लिखा है कि जो कोई भगवान् मे नित्य काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्द का भाव रखता है, वह भावनामय हो जाता है।

यदि पुष्टि मार्गी भक्तों की भगवान के प्रति उन्मुख होने की भावना पर दृष्टिपात किया जाय तो कहना पड़ेगा कि आरम्भ में तो वल्लभाचार्य जी ने वात्सल्यभाव की प्रधानता पर ही बल दिया था। सर्वप्रथम वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना की थी और गोवर्धन पर्वत पर कीर्तन आदि की व्यवस्था के लिए सूर को नियुक्त किया था। उस समय कृष्ण के बाल-रूप का ही वर्णन मुख्य रूप से हुआ करता था किन्तु धीरे-धीरे वात्सल्य भाव से सख्य भाव का आगमन हुआ। बाद मे तो माधुर्य भाव का समावेश भी हो गया था और स्पष्टतः कान्ता भाव की स्थिति हो चली थी। इस भाव की स्थिति सम्भवतः श्री वल्लभाचार्य जी की श्री चैतन्य महाप्रभु से भेंट के पश्चात् बनी थी। श्री चैतन्य महाप्रभु 'गीत गोविंद' के मधुर पदों को गा-गाकर इतने आत्म-विभोर हो जाते थे कि उन्हें अपनी भी सुध नही रहती थी। कान्ता भाव की प्रीति की विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए डाक्टर दीनदयालु गुप्त ने लिखा है—

'कान्ताभाव की प्रीति में प्रेम को आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था पूर्ण रूप में आ जाती है। आत्म-निवेदन तथा आत्मसमर्पण प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति के साधन में जो अन्तिम अवस्था

आत्म-निवेदन की कही गई है। वह कान्ता भाव में ही पूर्ण होती है।"

हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पुष्टिमार्ग कान्ता-रति में अपने चरम उत्कर्ष की भक्ति प्रस्तुत करता है।

सूर पर प्रभाव

अब देखना यह है कि सूरदास पर इस पुष्टिमार्ग का प्रभाव कहाँ तक पड़ा है? इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महात्मा सूरदास वल्लभ-सम्प्रदायी थे। सभी जानते हैं कि उन्होंने वल्लभाचार्य जी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा पाई थी। इतना ही नहीं, वे तो पुष्टिमार्ग के अनुयायी भक्त कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। श्री वल्लभाचार्य जी के पुत्र तथा उत्तराधिकारी स्वामी विट्ठलनाथ जी ने 'अष्टछाप' नाम से जिन आठ कवियों को एकत्र किया था उनमें सूरदास जी का नाम भी था। नाम ही नहीं, वे अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वे ही श्रीनाथ जी जैसे प्रसिद्ध मन्दिर की उपासना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माने गये थे। अतः यह स्वाभाविक-सा है कि उन पर पुष्टि-मार्ग का प्रभाव बहुत गहरी मात्रा में पड़ा था कहें तो वह सकते हैं कि पुष्टिमार्ग का ही उन पर सर्वाधिक प्रभाव था।

'सूरसागर' में उन्होंने पुष्टिमार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति कहीं भी नहीं की, यह देखकर आश्चर्य होता है। वे तो श्रीनाथ जी के मन्दिर में प्रातः काल से लेकर रात्रि तक कृष्णोपासना में लगे रहते थे। वहाँ वे श्रीकृष्ण जी के समस्त दैनिक कार्यों को करते थे। सर्वप्रथम ऐसे गीत गाना जिनसे भगवान सोते से जाग जायें, उसके पश्चात् स्नानादिक क्रिया तथा भोजन व्यवस्था, फिर गोचारण के लिए कृष्ण जी का वन जाना' सायंकाल को वन से लौटते हुए कृष्ण जी का स्वागत करना, बातचीत करना और तब भी जाना आदि इन सब कार्यों को सूरदास जी ही भगवान् के कीर्तन द्वारा सम्पादित

* भगवान् के विविध समय के कीर्तन सम्बन्धी पद 'सूरसागर' में

अत पुष्टिमार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के अभाव

को देखकर हमे आश्चर्य नही करना चाहिये। वे तो दिन रात पुष्टिमार्ग के अनुसार कीर्तन करते रहते थे। साथ ही एक बात और कह देनी आवश्यक है। वह बात यह है कि सूरदास जी की सर्वत्र यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपनी मौलिकता की छाप सर्वत्र लगा दी है कि कीर्तन के लिए पद-रचना करते-करते उन्होंने पुष्टिमार्ग का अनुसरण तो किया, किन्तु किसी भी समय अपने मन की बात को प्रभु के सामने कहने मे कोई संकोच नही किया। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। श्रीकृष्ण के बाल-रूप का वर्णन करते-करते वे अन्त की पंक्ति मे आत्मनिवेदन अवश्य करते हैं। यथा—

'सूरदास की सर्व अविद्या दूर करो नन्द लाल।'

इसी प्रकार की उनकी मौलिकता को प्रमाणित करने के लिए और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। सूर ने कई स्थानो पर अपने मन की बात को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है। भगवान् को रहस्यात्मक रूप मे देखने की भी उनकी अपनी निजी भावना भी पुष्टिमार्ग से अलग कही जा सकती है। एक पद उदाहरण-स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

"चलि सखी तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि कहीं विकसाहिं॥
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल अंग मिलि मिलि न्हाहिं।
मुक्ति मुक्ता अब के फल तिन्हैं चुनि चुनि खाहिं॥"

× × × ×

"सघन गुंजत बैठि उन पर भौंर हैं बिरमाहिं।
सूर क्यों नहि चलो उडि तहाँ बहुरि उडिबो नाहिं॥"

इन उदाहरणों के प्रस्तुत करने से हमारा प्रयोजन यह नहीं है कि सूरदास पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव नही पड़ा था। सूरदास पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव

बहुत पड़ा है। इस मार्ग के अनुसार होने वाली भगवान की क्रियाओं का सूर पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने अन्य भाव व्यक्त किये हैं वहाँ प्रधान रूप से ऐसी क्रियाओं का विस्तार दिखाई देता है। उदाहरण के लिए पुष्टिमार्ग के भक्तों को नित्य प्रति भगवान् को भोग लगाना अनिवार्य था। सूर के अनेक पदों में नाना प्रकार की ऐसी ही भोज्य सामग्रियों की सूची देखने को मिलती है।

कान्ता-भाव

पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण के नित्य प्रति के रास में स्त्रियाँ अथवा स्त्री भाव धारण करने वाले पुरुष भक्त ही प्रविष्ट हो सकते थे। सूरदास की दृष्टि में यद्यपि भक्ति-भावना के विषय में यही उचित था कि कोई भी किसी भाव से भक्ति कर सकता है, किन्तु तो भी उन्होंने स्त्री-भाव या कान्ताभाव से ही भगवान् कृष्ण की विशेष रूप से भक्ति की है। जीवन के अन्तिम दिनों में तो उनकी यह भावना और भी तीव्र हो चली थी। उनके अन्तिम काल के पदों में वही वेदना, वही विरह और वही अनुभूति दिखाई देती है जो कि एक स्त्री अपने पति के लिए रखती है। कहने का मतलब यह है कि पुष्टिमार्ग के इस स्त्रीभाव अथवा कान्ता भाव का प्रभाव सूर पर बहुत अधिक था।

महात्मा सूरदास ने गोपी, ग्वाल, नन्द यशोदा आदि के माध्यम से अपनी भक्ति-भावना का जो प्रकटीकरण किया है उसके पीछे भी थी आचार्य की की दीक्षा ही कार्य करती रही है। इस प्रसंग में श्री वल्लभाचार्य के कुछ विचार, जो उन्होंने अपने 'षोडस' ग्रंथ में व्यक्त किये हैं, प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा। उन्होंने कहा है कि जो दुख यशोदा, नन्द तथा गोपियों आदि को गोकुल में हुआ वह दुख मुझे कब होगा? गोकुल में गोपियों, गोपों आदि को जो सुख प्राप्त हुआ, वह सुख भगवान् मुझे कब देंगे। उद्धव के आगमन पर वृन्दावन और गोकुल में जो महान् उत्सव हुआ था, क्या कभी वैसा मेरे मन

मे भी होगा ? महात्मा सूरदास के हृदय में भी बिल्कुल ऐसी ही तीव्र छटपटाहट थी जब वे पदों की रचना करते थे। जब वे भगवान् के गुणों का वर्णन करते हैं तो उनका हृदय द्रवित हो उठता है। यही कारण है कि उनके पदों मे तीव्र अनुभूति के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग से अत्यधिक प्रभावित हैं। 'सूरसागर' में स्पष्टतः पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का विवेचन न होते हुए भी पदो की भावनायें पुष्टि मार्गी सिद्धान्तों से मिलती हैं, अतः यही कहना उचित है कि वे वास्तव मे पुष्टिमार्ग से बहुत अधिक प्रभावित हैं, किन्तु साथ ही इतना कह देना भी हम उचित समझते हैं कि सूर ने पुष्टिमार्ग से प्रभावित होते हुए भी अपनी कुछ मौलिकता अवश्य रखी है।

प्रश्न १८— 'यद्यपि सूर से पहले अन्य कवियों ने भी प्रकृति का चित्रण किया था, किन्तु जितना विशद् चित्रण सूर ने किया है उतना उनसे पूर्व अन्य किसी कवि ने नहीं।" इस कथन पर प्रकाश डालते हुए सूर के प्रकृति चित्रण की समीक्षा कीजिये।

प्रकृति मानव की प्रिय सहचरी है। प्रकृति का मानव से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब से वह पृथ्वी पर अपने नेत्र खोलता है तभी से उसे पद-पद पर प्रकृति के नाना रूपों के दर्शन होते हैं। उसके कोमल रूप को देख कर कभी वह अपना मन बहलाता है और उसके भयंकर रूप को देखकर कभी वह भयभीत हो उठता है। प्रातःकाल की अरुणिमा और संध्याकाल की लालिमा मे यदि उनका कोमल रूप दिखाई देता है तो मध्यान्ह काल के प्रखर ताप तथा रात्रि की नीरवता और तमोमयता में उसका भयंकर रूप दृष्टिगोचर होता है। जनसाधारण को प्रकृति के इन दोनों रूपों का दर्शन होता है। साधारण मानव से अधिक भावुक कवि को प्रकृति कुछ और भी अधिक मात्रा में प्रभावित करती है। वह अपनी प्रतिभा के बल से कल्पना के पंखों पर सवार

सूरदास को ब्रजभूमि से प्रेम होने का कारण एक ओर भी था
जी पुष्टिमार्गी भक्त थे और पुष्टिमार्गी भक्तों की दृष्टि में ब्रजभूमि
बहुत अधिक थी। इसी भूमि पर इस सम्प्रदाय वालों के प्रसिद्ध
के मन्दिर की स्थापना हुई थी। सूरदास जी के परमादरणीय
वल्लाभाचार्य जी को भी यही भूमि बहुत अधिक प्रिय थी। अतः
से सूरदास का अत्यधिक प्रेम होना तथा इसकी महत्ता का प्रतिपादन
स्वाभाविक था। ब्रज में कृष्ण, नन्द, ग्वाल, यशोदा आदि के अतिरि
के वर्णन के लिए प्रकृति ही थी। ब्रज में और था भी क्या, जो सूर
को अपनी ओर आकर्षित करता ? अतः ब्रज के प्राकृतिक सौंदर्य का
सूर के काव्य में विशद रूप से प्राप्त हो जाता है।

सूरदास का मुख्य उद्देश्य प्रकृति-चित्रण नहीं था। उनका मुख्य
था कृष्ण का चरित्र-गान। वे तो कृष्ण का सौन्दर्य, प्रेम और सौन्
मुख्य रूप से वर्णन करना चाहते थे। इसी वर्णन के लिए उन्होंने
का सहारा भी लिया है। अतः उनका प्रकृति वर्णन साधन है, साध्य नह
उनकी पैनी दृष्टि विस्तृत जगत् की रंगस्थली से असंख्य सुन्दर पदार्थ खोज
हैं, किन्तु उनका सौन्दर्य एकमात्र कृष्ण के सम्बन्ध से सार्थक होता है।
चाहे प्रकृति को उपमान बना कर लाये और चाहे चित्रों की पृष्ठभूमि
निर्णय में उसका उपयोग करे, उसका अवलोकन वह कृष्ण-प्रेम से रंग
दृष्टि द्वारा ही कर सकते हैं। प्रभात इसलिए सुन्दर है कि उस बेला
श्रीकृष्ण सोकर उठते हैं। प्रभात में विकसित हुए कमलों से श्रीकृष्ण
अर्धोन्मीलित नेत्रों का सुखद स्मरण होता है। कलरव करते हुए सब वृन्द से
प्रतीत होते हैं मानों कृष्ण की विरुदावली गाते रहे हों। विकसित कमलों
मंडराते तथा गूंजते हुए भ्रमर कृष्ण प्रेम में उन्मत्त उनका गुणगान
वाले सेवक जैसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार
भाग जाता है उसी प्रकार कृष्ण के जागने से सब दुःख-दैन्य द्वन्द्व-भय और
मत्सर-मद दूर हो जाते हैं।

जिस वातावरण में श्रीकृष्ण रसकेलि करते हैं उसकी प्राकृतिक शोभा का तो कहना ही क्या ? कविवर सूरदास ने अपने हृदय के आनन्द-उत्साह, गोपियो के उच्छल उल्लास और श्रीकृष्ण के परमानन्द रसेश्वर रूप के साथ बाह्य प्रकृति को अत्यधिक उमंग से उत्फुल्ल चित्रित किया है। श्रीकृष्ण की सामूहिक रस-लीला का उत्कृष्ट रूप रास और वसन्त के विहारों मे ही दिखाई देता है। वसन्त काल मे जब श्रीकृष्ण गोपियों के साथ फाग खेलते हैं तो प्रकृति की शोभा भी निराली ही होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी चेतन होकर उस अखड आनन्द का अनुभव कर रहा है ? ऐसा लगता है कि मानो वह प्रेम में उन्मत्त हो गई है और नृत्य कर रही है। वसन्त का एक छोटा-सा चित्र देखिये जिसमें बाह्य, रूप-सौन्दर्य से अधिक सूरदास जी ने आन्तरिक उल्लास की व्यजना की है—

"कोकिल बोली बन बन फूले, मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयो भोर रोर बदिन को मदन महीपति जागे।।
ते द्रुने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहले दव दागे।
मानहुँ रति पति रीझि जाचकनि बरन-बरन दये बागे।।
नई प्रीति, नई लता, पुहुप नये, नयन नये रस पागे।
नए नेह नव नागरि हर्षित, 'सूर' सुरंग अनुरागे।।"

वर्षा और शरद् ऋतुओं की शोभा भी विशेष रूप से मनमोहक होती है। महाकवि सूर ने वर्षा ऋतु मे भी हिंडोल-लीला का वर्णन कर दिया है जिसमें रसेश्वर कृष्ण का आनन्दोल्लास ही चित्रित हुआ है। ऐसा भी एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"बन बननि कोकिल कठ निरखति, करत दादुर सोर।
घन घटा कारी, स्वेत बग पंगति निरखि नभ ओर।।
तैसोयै दमकति दामिनी, तैसोई अवर घोर।
तैसो रटत परीहरा, तैसोइ बोलत मोर।।

तँसीयै हरियारि भूमि बिनसंति, होत नहिं रवि योरि।
तँसीयै मरही बूँदे बरषति झर्मिक झर्मिक झकोरि॥
तँसीयै भरि सरिता सरोवर, उमंग चलि मिति फोरि।"

ऐसे प्राकृतिक वातावरण में सूर ने गोपियों को भी उपयुक्त रंगों के आकर्षक वस्त्रों तथा भूषणों से सजा रखा है—

"सब पहिरि चुनि चुनि चीर, चुहि चुहि चूनरी बहु रंग।
कटि नील लहंगा, लाल चोली, उबटि केसरि अंग।
नवसात सजि नई नागरी, चली भुंड-भुंडनि संग।
मुख-स्याम-पूरन चंद की, मनु उमंगि उदधि तरंग।"

इस प्रकार हमने देखा कि संयोगावस्था में प्राकृतिक शोभा आनन्द उल्लास की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है, किन्तु वही प्रकृति की शोभा वियोगावस्था में विषादमय बन जाती है। जो वर्षा ऋतु संयोगावस्था में सुखदायक थी, अब वही वियोगावस्था में गोपियों को व्यथा प्रदान करती है। वर्षा ऋतु का शुभागमन हो चुका है, प्रकृति-सुन्दरी ने सुन्दर वेश धारण कर लिया है किन्तु गोपियाँ तो कृष्ण के स्मरण से दुखी हो रही हैं—

"बरन बरन अनेक जलधर, अति मनोहर वेष।
तिहि समय सखि गगन सोभा, सबहिं तें सुविशेष।
उड़त बग बग वृन्द राजत, रटत चातक मोर।
बहुत बिधि चित रुचि बढ़ावत, दामिनी घनघोर।
धरनितनतनु रोम पुलकित, पिय समागम जानि।
द्रुमनि वर बल्ली वियोगिनि, मिलति पति पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुंज नाना नाद।
मुदित मंडल-मेघ बरषत, गत बिहंग विषाद।
कुटज, कुंद, कदंब, कोविद, करनिकार, सुकंजु।

> केतकी, करबीर, बेला बिमत बहु बिधि मंजु।
> सघन दल, कलिका अलंकृत, सुमन सुकृत सुवास।
> निकट नैन निहारि माधौ, मन मिलन की आस।"

प्राकृतिक सौन्दर्य मे कृष्ण के अंग-प्रत्यंग के मनमोहक उपमान देखकर गोपियाँ बहुत दुःखी होती हैं। वे इस बात को नही समझ पाती कि कृष्ण ने ब्रज को क्यों त्याग दिया ? वे बार-बार कृष्ण के रूप सौन्दर्य का ही स्मरण करती हैं। जब कभी गोपियाँ श्यामल बादलों मे घनश्याम की अद्भुत छवि को देख लेती हैं तो उनके वियोग की व्याकुलता और भी अधिक बढ़ जाती है। निम्नलिखित पंक्तियो मे वर्षा ऋतु का शोभायुक्त दृश्य कितना विषाद-जनक प्रतीत हो रहा है—

> "इन्द्र धनुष मनु पीत बसन छवि, दामिनी दसन विचारि।
> जनु बग पाँति माल मोतिन की, चितवत चित्त निहारि।
> गरजत गगन गिरा गोविंद मनु, सुनत नयन भरे बारि।
> 'सूरदास' गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं ब्रजनारि॥'

वर्षा का प्रत्येक दृश्य गोपियो को व्याकुलता प्रदान करता है। सावन का महीना है घटायें गगन मे घुमड रही हैं। चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा है। आने-जाने के सभी मार्ग बन्द हो गये हैं इसलिए कृष्ण के आगमन की संभावना अब और भी कम हो गई है, किन्तु ये भयंकर बादल तो अब भी निडर होकर गरज रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण की अनुपस्थिति मे इन्द्र ने ब्रज को अरक्षित समझ कर प्रतिशोध लेने का निश्चय कर लिया है। उदाहरण दर्शनीय है--

> "नैन जलद, निमेष दामिनी, आँसु बरसत धार।
> बरत रवि ससि दुरयौ धीरज, स्वास पवन प्रकार।
> उरज गिरि में भरत भारो, असम काम अपार।
> गरज बिकल वियोग बानी, रहति अवधि। अधार॥'

वर्षा के उपकरणों में सबसे अधिक दुःख गोपियों को मोर ही प्रदान करते हैं। वर्षा दिवसों में बिजली का चमकना, बादलों का गरजना और बूँदों का पड़ना भी व्यथा प्रदान करता ही है, किन्तु मोर भी हृदय को बहुत ही वेदना पहुँचाते हैं। गोपियाँ सोचती हैं कि क्या इन्हें हम से कोई शत्रुता है? क्या इन्हें ऐसा करने से कोई भी नहीं रोकता —

> "कोउ माई बरजै री इन मोरनि।
> देखत बिरह सह्यो न परै छिन, सुनि दुख होत करोरनि॥"

दिन में तो ये मोर बोल कर व्यथा पहुँचाते हैं और रात्रि को पपीहा का बोल दुःख का कारण बनता है, किन्तु पपीहा की एक विशेषता है। विरहिणी गोपियों को पपीहा जितना व्यथित करता है, उससे भी अधिक वह उन्हें सान्त्वना देने वाला है। पपीहा उन्हें अपना सहधर्मी-सा दिखाई देता है। वह भी आजन्म करुण स्वर से प्रियतम की रट लगाये रहता है। दोनों के हृदय की भावना में समानता है। गोपियाँ इस विषय में कह रही हैं—

> "सखी री चातक मोहि जियावत।
> जैसेहि रैनि रटत पहिहौं-पिय पिय, तैसेहि वह पुनि गावत।
> अतिहिं सुकंठ, दाह प्रीतम कैं, तारन जीभ म सावत।
> आपुन पियत सुधारस अमृत, बोलि बिरहिनी प्यावत।
> यह पंछी जु सहाय न होतौ, प्रान महा दुख पावत।
> जीवन सुफल, 'सूर' ताही को, काज पराये आवत।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूर ने प्रकृति का भावात्मक प्रयोग ही किया है। वास्तव में मध्ययुग के भक्त कवियों के लिये प्रकृति का यह भावात्मक प्रयोग ही सम्भव था। वे प्रकृति के पदार्थों में मानवीय भावों की अनुरूपता या प्रतिकूलता का ही दर्शन कर सकते थे। यदि वे बाह्य जगत् के साथ कोई आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे तो वह केवल अपने इष्टदेव

के माध्यम से। विविध अलंकारों में उपमानों के रूप में प्राकृतिक पदार्थों का जो उपयोग किया गया है वह भी भावाश्रित ही समझना चाहिये। सूरदास जी ने प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में से असंख्य सुन्दर असुन्दर-पदार्थों को जो खोज-खोज कर एकत्र किया है उसका कारण यह है कि जिससे कृष्ण के रूप, उनकी विविध क्रीड़ायों और उनके विषय में गोप और गोपियाँ आदि के भावों का चित्रण हो जाये। 'सूरसागर' में यद्यपि कुछ विग्रह-प्रधान प्रकृति-चित्र भी मिलते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जाये तो वे भी किसी न किसी रूप में भाव के उद्दीपन के लिये ही हैं। उदाहरणार्थ दावानल का एक चित्र हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

> "......पटकत बास, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
> उचटत अति अंगार फुटत, फर, झपटत लपट कराल।
> धूम धूलि बाढ़ी धर अंबर, चमकत बिच-बिच ज्वाल।
> हरिन, बराह, मोर, चातक, पिक, जरत जीव बेहाल।'

वन में अग्निसंहार के इस चित्रोपम वर्णन को देखकर महाकवि सूरदास के प्रत्यक्ष दर्शन तथा चित्रांकन-कौशल का परिचय प्राप्त होता है। इस चित्रांकन का उद्देश्य चित्रांकन नहीं है। कवि का उद्देश्य तो कुछ और ही है। वह यहाँ गोप-सखाओं के मन के भय एवं आतंक तथा उनसे श्रीकृष्ण द्वारा उनकी रक्षा का वर्णन करके विस्मय की व्यंजना करना चाहता है। निम्न-लिखित पंक्तियाँ हमारे इस कथन की स्पष्ट परिचायक हैं। देखिये, प्रारम्भ में इस दृश्यचित्रण में कवि क्या कहता है—

> "......अब कै राखि लेहु गोपाल।
> दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि उपजी है इहि काल।'

अन्त में वह क्या कहता है, वह भी दर्शनीय है—

> "जानि जिय डरहु नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नंदलाल।
> 'सूर' अगिनि सब बदन समानी, अभय किये ब्रज-बाल॥"

स्वतन्त्र रूप के प्रति राग का अनुभव नही किया हैं। सूर-काव्य मे प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, वह नायक नायिकाओं के भाव की अंग रूप ही है।

इतना होते हुए भी सूर ने उद्दीपन रूप मे बड़े सुन्दर प्रकृति चित्र खीचे हैं। उपर्युक्त विवेचन तथा उदाहरणों से जहाँ यह स्पष्ट है कि सूर ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में चित्रण नहीं किया है, वहाँ साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि सूरदास मे सृष्टि के नाना रूपों, रंगो, क्रिया—कलापो आदि को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की अद्भुत क्षमता है, तथा उनकी सौन्दर्य-चित्रण की रुचि अत्यन्त परिष्कृत एव सुसस्कृत है। आलोचकों का यह मत मान्य है कि कभी-कभी सूरदास की सौन्दर्य-कल्पना भी अलकारो के भार से आक्रान्त तथा परम्परायुक्त उपमानो मे विलीन-सी हो जाती है। यह भी किसी सीमा तक ठीक माना जा सकता है कि कही कही सूर उपमानों के साथ खिलवाड़ करते देखे जाते हैं। कुछ पदों मे तो उनकी सौन्दर्याभिरुचि के विषय मे भी सन्देह-सा होने लगता है, किन्तु अधिकाश मे उनके चित्रण उनकी विस्तृत पर्यवेक्षण शक्ति के ही परिचायक हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि से देखने की अद्भुत क्षमता को देखकर चकित होना पड़ता है।

हिन्दी साहित्य में सूर से पूर्व भी कुछ प्रकृति-चित्रण यत्र-तत्र प्राप्त होता है, किन्तु जितना विशद चित्रण सूर-काव्य मे देखने को मिलता है उतना सूर से पूर्व के काव्यो मे नही मिलता। उनके प्रकृति वर्णन का कई दृष्टियो से बडा महत्व है। उनके प्रकृति वर्णन मे न तो तुलसी आदि के समान उपदेशो की भरमार है, न केशव के समान हृदयहीनता और न जायसी के समान अस्वाभाविकता एवं ऊहात्मकता। डा० रामरतन भटनागर के शब्दो मे हम कह सकते हैं—

सूर ने ब्रज की नित्य प्रति की प्रचलित वस्तुओं और प्राकृतिक प्रसगों को हमारे सामने इस प्रकार रख दिया है कि हमें आश्चर्य होता है।"

निष्कर्ष यह है कि सूर ने प्रकृति-चित्रण विशद रूप में किया है। यद्यपि वह स्वतन्त्र रूप में न होकर उद्दीपन रूप में ही है, तो भी उसमें कवि की विस्तृत पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय मिलता है। उनका-सा प्रकृति का विशद चित्रण उनसे पूर्व के हिन्दी कवियों में नहीं मिलता। अतः प्रस्तुत उक्ति की सत्यता पर विश्वास करना ही उचित है।

प्रश्न १६—'सूरदास की भक्ति-पद्धति' शीर्षक पर एक परिचयात्मक लेख लिखिये।

महाकवि सूरदास का नाम हिंदी-साहित्य में भक्त-कवि के रूप में प्रसिद्ध है। वे महाकवि तो थे ही, किन्तु कवि होने से पूर्व वे भक्त थे। वे भक्त पहले थे और कवि बाद में। साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यदि सूरदास एक महान् साहित्यकार हुए हैं। तो भक्त उन्हें भक्तराज के रूप में आज भी आदर-सहित स्मरण करते हैं और सदैव भक्तों के मध्य भक्तराज के रूप से स्मरण करते रहेंगे। अतः जहाँ हम सूर की कवि रूप में विवेचना करते हैं और उनके वात्सल्य और शृंगार रस के वर्णनों को पढ़ कर मुग्ध हो जाते हैं वहाँ उनकी भक्ति की तल्लीनता को देखकर भी गद्गद् हुए बिना नहीं रह सकते। अतः उनके कवि-रूप के अतिरिक्त उनके भक्त-रूप की विवेचना भी अनिवार्य है।

प्रभाव

महात्मा सूरदास की भक्ति-पद्धति पर विचार करने से पूर्व यह जानना परमावश्यक सा प्रतीत होता है कि उन पर किस भक्ति-सिद्धांत का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था? स्वयं सूरदास जी ने ही बताया है—

'श्री गुरु वल्लभ तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।'

अर्थात् स्पष्ट है कि उनके गुरु श्री वल्लभाचार्य जी थे। उन्होंने इन्हीं से दीक्षा पाई थी। श्री वल्लभाचार्य जी पुष्टिमार्गी सिद्धांतों में विश्वास रखते थे।

अतः सूरदास जी पर पुष्टिमार्ग का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ा है। इस मार्ग के सिद्धांत के अनुसार श्रीकृष्ण उपास्य देव हैं। श्रीकृष्ण से तात्पर्य उसी परम ब्रह्म परमेश्वर, निर्गुण निराकार ईश्वर से है जो सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश एवं रक्षा करने वाला है। साथ ही श्री आचार्य जी ईश्वर को निर्विकार नहीं मानते थे। उनका मत था कि वह अवतार लेते हैं और अपने भक्तों को प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार एक ओर तो वे ही अक्षर परब्रह्म हैं और दूसरी ओर भक्तवत्सल मानुष-रूपधारी एवं लीला विहारी श्रीकृष्ण हैं। श्री आचार्य जी के मतानुसार 'कृष्णानुग्रहरूपहि पुष्टि' अर्थात् कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। श्रीकृष्ण भगवान् जिस पर अनुग्रह करते हैं, उसे ही उनकी भक्ति प्राप्त होती है। बल्लभ-सम्प्रदाय मे यह पुष्टि चार प्रकार की बतलाई गई है—प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। शुद्ध पुष्टि ही भक्त का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। तभी भक्त परम विरहासक्ति को प्राप्त होता है और परम पद को प्राप्त करके अन्त मे गोलोक निवास करता है। महात्मा सूरदास ने इसी अनन्य भाव से कृष्ण की उपासना की है।

दास्य भाव

श्री आचार्य जी से दीक्षा लेने के पूर्व सूर की भक्ति पद्धति से सम्बन्धित विनय के पद प्राप्त होते हैं। इन पदो मे भी सूर का भक्त-हृदय स्पष्ट झलकता है। इनके विनय से सम्बन्धित पदो में दैन्य-भावना का प्रकाशन दर्शनीय है—

> "प्रभु हौं सब पतितन को टीको।
> और पतित सब द्यौस चारि के, हौं तो जनमत ही को।।"

दास्य भावना का सुन्दर प्रकाशन निम्न पंक्तियो में देखिये—

> "रे मन कृस्न नाम कहि लीजै।
> गुरु के बचन अटल करि मानो साधु समागम कीजै।।"

भगवान् की भक्ति पाने पर तो भक्त को कोई भी भय नहीं रह सकता —

हैं। उन्होंने अनेक स्थानों पर व्यक्त किया है कि भगवान अद्वैत और गुणातीत हैं। वे इस तथ्य को जानते भी हैं और मानते भी हैं, किन्तु तो भी उन्होंने अपने मन को सगुण भगवान की ओर ही अधिक लगाया है। वे सगुणोपासक कवि ही हैं। उन्होंने सहस्रों पदों की रचना साकार भगवान् के सम्बन्ध में ही की है। वे निर्गुण व निराकार भगवान् की भक्ति क्यों नहीं करते और सगुण व साकार की ही क्यों करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने एक पद में दिया है, जिसे हम यहां उद्धृत करते हैं—

"अवगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगुनि बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै॥"

भक्ति के प्रकार

शास्त्रों में भक्ति करने के नौ प्रकार बताये जाते हैं जो नवधा भक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। आत्म-निवेदन की दशा सब से अन्त में आती है। इस दशा का आगमन उस समय होता है जब भक्त मन, वाणी और कर्म तीनों से भगवान की ओर उन्मुख हो जाता है। इन नियमों की बात छोड़ कर हम तो एक बात कहते हैं। बात यह है कि भगवान के प्रति भक्त की जितनी लगन होगी उतनी ही श्रेष्ठ भक्ति कहलायेगी। इस आधार पर यदि हम सूरदास की भक्ति की परख करें तो हमें निश्चित रूप से कहना पड़ेगा कि सूरदास जी वास्तव में भगवान के अनन्य भक्त थे। उनकी भक्ति-भावना में जो अनन्यता एवं तल्लीनता दृष्टिगत होती है, वह कोई साधारण बात नहीं है।

महात्मा सूरदास ने भक्ति के सब प्रकारों पर पदों की रचना की है, किन्तु 'सूरसागर' में विनय और सखा भाव की भक्ति के पदों की संख्या ही कुछ अधिक मात्रा में प्राप्त होगी। जैसा कि पीछे बताया गया है कि श्री आचार्य जी से दीक्षा लेने के पूर्व जब वे गऊघाट पर रहा करते थे उन्होंने विनय के पदों की ही रचना की थी और इस प्रकार के पदों में दैन्य, दास्य, भक्त वत्सलता, समर्पण और भगवान के प्रति अटूट विश्वास दर्शनीय है, किन्तु दीक्षा के पश्चात् सूर ने सख्य भाव की भक्ति के पद ही अधिक मात्रा में रचे थे। साथ ही यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि इस प्रकार के पदों की रचना के साथ साथ वे नवधा भक्ति के प्रकार से सम्बन्धित पद भी रचते रहते थे। इतना अवश्य माना जा सकता है कि जहाँ दीक्षा से पूर्व उनकी रचनाओं में विनय की प्रधानता थी, वहाँ अब अर्थात् दीक्षा के पश्चात् सख्य भाव सम्बन्धी पदों की रचना अधिक मात्रा में होने लगी।

वैष्णव सम्प्रदाय

विनय से सम्बन्धित वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रकटीकरण भी अनावश्यक एवं अप्रासंगिक न होगा। इस सम्प्रदाय के अनुसार विनय की सात भूमिकायें हैं—दीनता, मान-मर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण। सूरदास के पदों में इन सातों भूमिकाओं को व्यक्त करने वाले पद मिल सकते हैं। वास्तव में नवधा-भक्ति और वैष्णव सम्प्रदाय की विनय की सातों भूमिकाओं से सम्बन्धित पदों को देखकर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सूर ने विनय की पूर्णता प्रदर्शित कर दी है। उदाहरणार्थ विनय की सातों भूमिकाओं को व्यक्त करने वाले पद उद्धृत किये जाते हैं—

१. दीनता—'अबके माधव मोहिं उभारि।
मगन हौं भव अबुंनिधि मैं कृपा सिंधु मुरारि॥'

२. मान मर्षता—'अब हौं कहौ कौन दर जाऊँ।
तुम जुगपाल चतुर चिंतामनि दीन बन्धु सुनि नाऊँ।
माया कपट रूप कौरव दल लोभ मोह मद भारी।
परवस परी सुनहु करुणामय मम मति पतिव्रत नारी॥'

३. भय दर्शन—'भगति बिनु सूकर कूकर जैसे।
दिग बगुला अरु गीध घूघुग्रा आय जनम लियो तैसे॥'

४. भर्त्सना—'भजु मन चरन संकट हरन।
सनक संकर ध्यान लगावत निगम असरन सरन॥
सेस सारद कहैं नारद संत् चिंतत चरन।
पद पराग प्रताप दुरलभ रमा के हित करन॥'

५. आश्वासन—'ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
कहियत दीन दास पर पीरक सब घट अन्तरजामी।'

६. मनोराज्य—'ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हो प्रभु दीन दयाल॥
चित्त निरन्तर चरनन अनुरत सत कर कजनि दल माल॥'

७. विचारण 'रे मन मूरख जनम गवायो।
करि अभिमान विषय सों राच्यौ स्याम सरन नहिं आयो॥
यह संसार फूल सेंवर को सुन्दर देखि भुलायो।
चाखन लाग्यौ रुई उघरानी हाथ कछू नहिं आयो॥
कहा भयो अबके मन सोचे पहले नाहिं कमायो।
कहै सूर' भगवन्त भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछतायो॥'

सखा भाव

लीजिये अब उनकी सखा भाव की भक्ति पर भी विचार कर लीजि

'सूरसागर' में सखा भाव की भक्ति के पद प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस भाव की भक्ति में भक्त अपने इष्ट देव के साथ कुछ अधिक सान्निध्य स्थापित कर लेता है। इष्टदेव की विविध प्रकार की लीलाओं में वह साथ-साथ विचरण करता है। उनका चलना, फिरना, हंसना, खाना, बोलना, खेलना कूदना आदि कुछ भी भक्त से गोपनीय नहीं रहता। सूरदास जी इसी प्रकार के कृष्ण के भक्त हैं। वे कृष्ण के सखा हैं। उन्होंने अपनी सखा-भाव की भक्ति को दो प्रकार से प्रकट किया। एक तो ग्वाल-बाल विविध प्रसंगों में कृष्ण के साथ चित्रित किये हैं और दूसरे स्वयं भक्त भगवान् के साथ सखा-रूप में व्यवहार करता है। जैसे —कृष्ण जी गोचारण के समय ग्वाल बालों से एक सखा की भाँति स्नेह पूर्ण क्रीड़ा, वार्तालाप आदि करते हैं। ग्वाले भी उन्हें अपने समान ही समझते हैं, अपने से कुछ बढ़ कर नहीं। वे तो स्पष्ट कहते हैं कि 'खेलन में को काको गुसैंया।' स्पष्ट है कि ग्वालबालों के साथ कृष्ण का सम्बन्ध सखा जैसा ही है। छाक खाने वाले प्रसंग में कृष्ण जी को छीन-छीन कर छाक खाते देख कर भला कौन ऐसा भक्त होगा जिसके हृदय में आनन्द और सुख का समुद्र न लहरा उठता हो? वह पद यहाँ दृष्टव्य है—

"ग्वालन कर तें कौर छुड़ावत।
जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत॥
षटरस के पकवान धरे सब ता में नहिं रुचि पावत।
हा हा करि-करि मांग लेत है कहत मोहिं अति भावत॥
यह महिमा एई पै जानै जातैं आप बंधावत।
'सूर' स्याम सपने नहिं दरसत मुनि जन ध्यान लगावत॥"

गोप-ग्वाले कृष्ण जी के इतने प्रिय सखा बने हुए हैं कि उनके मथुरा चले जाने पर उनका मन बिल्कुल नहीं लगता। वे दिन-रात कृष्ण को याद रहते हैं। गोप-ग्वाले ही नहीं, कृष्ण भी मथुरा में उन्हें याद करते रहते

। यदि कर्त्तव्य बाधक न होता तो वे भी सम्भवत मथुरा से दौड़कर आते
ार गोप-ग्वालों के साथ खूब खेलते; खाते और हसते। वास्तव में सूर ने
ाप-ग्वालों और कृष्ण का सखा सम्बन्ध अत्यन्त मार्मिकता के साथ चित्रित
ाया है।

सूर ने सखा रूप में स्वयं भी अपना सम्बन्ध श्रीकृष्ण से प्रदर्शित किया
। सख्य-भाव की भक्ति के कारण उनकी घनिष्ठता अपने इष्टदेव से बहुत
ाधिक बढ़ जाती है। पुष्टिमार्गी होने के नाते सूर भगवान कृष्ण की विविध
ालाओं का वर्णन करते हैं। श्रीनाथ जी के मन्दिर में नित्य प्रति कीर्तन
रते करते उनकी कृष्ण से अनन्यता एवं घनिष्टता और भी अधिक बढ़
ई है। अतः जब वे कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हैं तो वही भी कृष्ण
अकेले नहीं दिखाई देते। सख्य-भाव की भक्ति ने घनिष्ठता को यहाँ तक
ढ़ा दिया है कि वे राधाकृष्ण के प्रेमालाप तक ही सीमित न रहकर सुरति
क के वर्णन कर देते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना अनुपयुक्त
ा होगा—

"नीवी ललित गही यदुराई।
जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर तब यशुमति तहँ आई॥"
× × ×
"चुम्बन अंग परस्पर जनु जुग चंद कर हित चार।
दसननि असन चाँपि सु चतुर अात करत रंग विस्तार॥"
× × ×
"अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर स्याम भुजा अपने उर धरिया।
यौं लपटाइ रहे उर-उर ज्यों मरकत मनि कंचन में जरिया॥"

ऐसे वर्णनों को देखकर साधारण पाठक तो सूर पर अश्लीलता का दोष
लगा बैठते हैं। साधारण पाठक ही क्यों, कुछ आलोचक भी सूर पर अश्ली-
लता का दोष लगाने में कोई संकोच नहीं करते, किन्तु ऐसा करना नितान्त

इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनी पावै॥"

× × ×

"जेंवत स्याम नन्द की कनियां।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि निरखत नन्दरनियां।

× × ×

आपुन खात नन्द मुख नावत सो सुख कहत न बनियां।
जो सुख नन्द जसोदा बिलसत सो नहि तिहुँ भुवनियां।
भोजन करि नन्द अचवन कीन्हो मांगत 'सूर' जुठनियां॥"

अब तनिक सूर की माधुर्य-भाव की भक्ति के भी दर्शन कर लीजिये। माधुर्य भाव की भक्ति मे उनकी मौलिक उद्भावनायें दर्शनीय हैं। स्त्री पुरुष के मूल प्रकृतिगत प्रेम को भक्ति की ओर लगाकर सूर ने रस और आनन्द का संचार करने वाली भक्ति की पद्धति निकाली है। प्रेम की यह भावना प्रत्येक प्राणी के लिए एक प्राकृतिक वस्तु है। सूर ने इसी प्रेम-भावना को ईश्वर भक्ति के रूप मे दिखाकर माधुर्य भाव की भक्ति-पद्धति की नवीन उद्भावना की है। भागवत में भी ऐसा प्रसग आता है कि गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रेम की प्राप्ति के अनेक प्रयत्न किये हैं। उन्हें इस प्रेम की प्राप्ति के समक्ष किसी भी वस्तु की परवाह नहीं है। सूरदास ने इस प्रसंग में भी एक नवीनता ला दी है। उन्होंने गोपियों के प्रेम का मार्ग कीर्तन कराने वाला राधा और कृष्ण का एक और प्रेम दिखाया है। राधा को वे श्रीकृष्ण की पत्नी मानते हैं। यह सूर की एक मौलिक उद्भावना है। राधा कृष्ण के साथ रह कर खेलती हैं, खाती हैं और रास-लीला करती हैं। सूर ने राधा और कृष्ण के मिलन के विविध प्रसंग एकत्रित किये हैं और आनन्दमग्न होकर उनकी लीला देखी है।

सूरदास जी ने लौकिक प्रेम की वासना को परिष्कृत करने का आधार ही कृष्ण-प्रेम रखा है। गोपियों और कृष्ण का आपस में कोई दुराव ही नहीं

है। अनेक लीलाओं द्वारा पहले तो सूर गोपियों को उनकी ओर आत्माभिमुख करते हैं। आत्माभिमुख होने के पश्चात् तो गोपियाँ जैसे कृष्ण की अपनी ही हो गई हैं। मुरली के माधुर्य से वे मतवाली हो गई हैं—

"जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके आरजे पथ तजत न सकें करी।।"

वास्तविक माधुर्य भाव की भक्ति विरह में होती है। भगवान् के प्रति आसक्ति को विरह द्वारा तीव्रतर और तीव्रतम बनाते रहने से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। विद्वानों ने आसक्ति के ग्यारह भेद किये हैं—

(१) गुणमाहात्म्यासक्ति
(२) रूपासक्ति
(३) पूजासक्ति
(४) स्मरणासक्ति
(५) दास्यासक्ति
(६) सख्यासक्ति
(७) कान्तासक्ति
(८) वात्सल्यासक्ति
(९) आत्मनिवेदनासक्ति
(१०) तन्मयासक्ति
(११) परमविरहासक्ति

इन ११ प्रकार की आसक्तियों के चित्र सूरदास के पदों में मिल जाते हैं। विस्तार भय से उदाहरणों द्वारा इनका स्पष्टीकरण न करके हम इतना कहना ही पर्याप्त समझते हैं कि इस प्रकार के पदों में सूर की आन्तरिक अनुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। सूरदास जी स्वयं भुक्त भोगी हैं। वे स्वयं गुणमाहात्म्यासक्ति और रूपासक्ति के ऊपर उठकर परमविरहासक्ति में जाकर तन्मयासक्ति की आत्मनिवेदन अवस्था पर पहुँचने के

इच्छुक हैं। कहें तो कह सकते हैं कि वे वास्तव में इस अवस्था पर पहुँच भी गये हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि सूर ने लगभग भक्ति की सभी पद्धतियों को अपनाया है। पुष्टिमार्ग से वे सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं। यत्र तत्र रहस्यात्मक उक्तियाँ जैसे 'चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न मिलन बिछोह' भी प्राप्त हो जाती हैं। सूर की भक्ति रहस्यमयी ही है। वैसे वे सगुण ईश्वर के ही उपासक हैं, किन्तु उनके कृष्ण निराकार परब्रह्म ही हैं।

प्रश्न २०—सूर की संगीत-योजना का परिचय दीजिए।

संगीत और सरस्वती का अनादिकाल से ही गठबन्धन रहा है। कहना अनुचित न होगा कि जब भावावेश में आदि मानव ने कोई बात कही होगी तो उसका माध्यम संगीत ही रहा होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी संगीत की योजना आदिकाल से ही मिलती है। सिद्ध-साहित्य, नाथपंथी-साहित्य और सन्त-साहित्य सभी में संगीत का समावेश मिलता है, किन्तु हिन्दी में वास्तविक संगीत-योजना कृष्ण-साहित्य से ही प्रारम्भ होती है। इसका कारण यह है कि कृष्ण-साहित्य से पूर्व की संगीत-योजना केवल जन-साधारण को आकर्षित करने के लिए की गई थी। उसमें भाव की अपेक्षा तर्क की प्रधानता थी, इसीलिए उन साहित्यों के संगीत में वह गेयता न आ सकी जिसके लिए भावातिशयता आवश्यक होती है। कृष्ण-साहित्य में भावों का आतिशय ही नहीं था, वरन् उनमें औदात्त भी था, क्योंकि उनकी वाणी सर्वत्र अपने आराध्य का गुण-गान करने के लिए फूटी थी और जहाँ औदात्त है—भक्तों के गीत हैं—वहीं पर स्वयं भगवान् का वास होता है। विष्णु भगवान् इसी रहस्य का उद्घाटन नारद से करते हैं—

> 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
> मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'

कृष्ण-भक्तों की संगीत-योजना आकस्मिक नहीं थी। उसके पीछे उन भक्तों का संगीत-ज्ञान स्पष्ट मुखरित होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य और संगीत का परस्पर क्या सम्बंध है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर वैष्णव-दर्शन की शब्दावली में किया जाये तो कह सकते हैं कि इन दोनों में द्वैताद्वैत सम्बन्ध है ; अर्थात् दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। किसी भी उत्कृष्ट कवि के लिए संगीत-ज्ञान अनिवार्य नहीं है और न उच्च काव्य की सृजना के लिए संगीत-योजना अपरिहार्य है संगीत के अभाव में भी महान् काव्य की रचना हो सकती है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि काव्य और संगीत मौन होकर एक दूसरे का आलिंगन करते हैं। सौन्दर्य की इस सम्मिलित तथा द्विगुणित छवि ने दोनों एक दूसरे को नही पहचान पाते। वस्तुतः काव्य स्वतः संगीत होता है, इसीलिये किसी विद्वान् का यह कथन सत्य ही है—

'कविता शब्दों के रूप में संगीत और संगीत स्वर के रूप में कविता है'

भले ही इन मतों में विरोधाभास हो, किन्तु यह सत्य है कि संगीत को काव्य से पृथक् करना अथवा काव्य से संगीत को अलग करना दोनों की दिव्य शक्ति, आह्लादकारी प्रभाव और अमूर्त महत्व को नष्ट कर देना है।

संगीत का स्वरूप

सामान्यतया गीत अथवा गायन को संगीत कहा जाता है। इसका कारण यह है कि संगीत में गीत अथवा गायन की प्रधानता होती—

'गानस्यात्र प्रधानत्वात्तत्संगीतमितीरितम् ।'

किन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार केवल गीत अथवा गायन संगीत नहीं है, बल्कि गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का समन्वित रूप है—

'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।'

संगीत की यह परिभाषा सर्वमान्य है। सभी संगीताचार्यों ने कुछ शब्द-भेद से इसी परिभाषा को दोहराया है। नाद, श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, सप्तक, वर्ण, अलंकार, पकड़, जाति, मेल या ठाट तथा राग; ये संगीत के आधार होते हैं।

नाद—नाद नाभि के ऊपर हृदय-स्थान से ब्रह्मरान्ध्र-स्थिति प्राणवायु में होने वाले एक प्रकार के शब्द को कहते हैं। सभी गीत नादात्मक होते हैं। नाद केवल गायन का ही नहीं, बल्कि वादन और नृत्य का भी आधार होता है। अनाहद नाद और आहत नाद ये नाद के दो भेद होते हैं।

श्रुति—जो कान से सुनाई दे तथा जिसको श्रवणेन्द्रिय ग्रहण कर सके, उसे श्रुति कहते हैं। श्रुति के तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती आदि बाईस भेद होते हैं।

स्वर—जो नाद श्रुति उत्पन्न होने के पश्चात् तुरन्त निकलता है, जो प्रतिध्वनित रूप प्राप्त करके मधुर तथा रंजन करने वाला होता, जिसे अन्य किसी नाद की अपेक्षा नहीं होती, तथा जो स्वर स्वाभाविक रूप से श्रोताओं के मन को आकर्षित कर लेता है, उसे स्वर कहते हैं। स्वर के सात भेद हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन्हीं के संक्षिप्त रूप स, रे, ग, म, प, ध, और नि हैं। स्वर के अनेक उपभेद हैं।

ग्राम—स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं। ग्राम मूर्च्छनाओं के आधार होते हैं। इसके तीन भेद हैं—षड्ज, मध्यम तथा गांधार।

मूर्च्छना—सात स्वरों के क्रमानुसार आरोहण-अवरोहण को मूर्च्छना कहते हैं।

तान—रागों को विस्तृत करने, तानने तथा फैलाने की क्रिया को तान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—शुद्ध तान और कूट तान।

सप्तक—सातों स्वरों के समूह को सप्तक कहते हैं।

करताल, मुहचंग, मंजरी, पटह, निसान, मृदंग, डफ, झाँझ, तूर, बीणा, घन, शंख, भृंगी, भेरी, नगाड़ा, हुडुक, थारी, महुवरि, मंजीरा, सहनाई, दमामा, आवज, करनाल, मुरली, मानधंग, बेना, पंचशब्द, तार और बीना बीन।

नृत्य—लय और ताल के साथ अंग-संचालन करते हुए हृदयस्थ भावनाओं को शरीर की चेष्टाओं के द्वारा प्रकट करना नृत्य कहलाता है। नृत्य के दो भेद हैं—ताण्डव और लास्य। उत्कट नृत्य को ताण्डव और मधुर नृत्य को लास्य कहते हैं।

कृष्ण-साहित्य में इन दोनों प्रकार के नृत्यों का समावेश है, साथ ही अन्य प्रकार भी देखे जाते हैं। जैसे—बाल-नृत्य और रास नृत्य। बाल-नृत्य के अन्तर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन है और रास-नृत्य में कृष्ण की रास लीला का वर्णन किया गया है। रास-नृत्य हल्लीश-नृत्य का ही रूप है। इस नृत्य में बीच में राधाकृष्ण रहते हैं और इनके चारों ओर गोपियाँ। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कृष्ण ब्रह्म के तथा राधा और गोपियाँ जीव के प्रतीक हैं। ब्रह्म जीव को अपनी ओर खींचता है। इसी भावना को व्यक्त करने के लिए रास-नृत्य में स्थित कृष्ण के चारों ओर गोपियाँ नृत्य करती हुई दिखाई जाती हैं।

सूर की संगीत-योजना

कृष्ण-साहित्य में संगीत-योजना का जो स्वरूप है, वह समग्र सूर के पदों में उपलब्ध होता है। सूर की संगीत-योजना का अध्ययन करने के लिए इसे निम्नलिखित तीन उपशीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है—

१. गायन अथवा गेयता
२. वादन अथवा वाद्य यन्त्र
३. नर्तन अथवा नृत्य

१. गायन अथवा गेयता—गायन अथवा गेयता का आधार है राग। सूर के में रागों का जितना अधिक विकास मिलता है, उतना अन्य कृष्ण-भक्त

के काव्य में नहीं मिलता। जैसा कि पहले बता चुके हैं, सूर के काव्य मे ८१ के लगभग राग-रागनियां मिलती हैं।

२. वाद्य—कृष्ण-भक्तों ने अनेक-प्रकार के वाद्यों का विधान अपने काव्यों मे किया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सूर के काव्य मे भी ये वाद्य मिलते हैं। यथा—

'पंचमि पंच शब्द करि साजे सनि वादिम अपार।
रुंज मुरज डफताल बांसुरी झालर को झकार॥
बाजत बीन रबाब किन्तरी अमृत कुंडली यंत्र।
सुर सुरमण्डल जलतरंग मिल करत मोहनी मंत्र।
विविध पखावज आवज संचित बिच बिच मधुर उमंग।
सुर शहनाई सरस सारंगी उपजत तान तरंग।
कंसताल कटताल बजावत शृंग मधुर मुहचंग॥
मधुर खंजरी पटह प्रणव मिल सुख पावत रतभंग।
निपटन केरी श्रवणन धुनि सुनि धीर न रहे ब्रजबाल।
मधुर नाद मुरली को सुन के भेटे श्याम तमाल॥"

३. नर्तन अथवा नृत्य—कृष्ण-साहित्य में ताण्डव और लास्य नृत्य का उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही बाल-नृत्य और रास-नृत्य के वर्णन भी मिलते हैं। सूर ने अपने पदों में इन सभी नृत्यों का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। यथा—

"हरि अपने आंगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सों नाचत, मनहीं मनहि रिझावत॥"

—बाल-नृत्य

× × ×

"सबै ब्रज है जमुना के तीर।
काली नाग के फन . . .

लाग मान थेइ-थेइ करि उघटत, ताल मृदंग गंभीर ॥
प्रेम मगन गावत गंध्रब गन व्योम बिमाननि भीर ।
उरग नारि ग्रागे पई ठाढ़ी, नैननि ढारति नीर ॥"

—ताण्डव-नृत्य

× × ×

"आजु निसि रास रंग हरि कीन्हौ ।
ब्रज बनिता बिच स्याम मंडली, मिलि सबको सुख दीन्हौ ॥
सुर ललना सुर सरित बिमोहीं, रच्यौ मधुर सुर गान ।
नृत्य करत, उघटत नाना बिधि, मुनि मुनि बिसार्यौ ध्यान ॥"

—रास-नृत्य

ग्रतः कहा जा सकता है कि सूर की संगीत-योजना कहाँ शास्त्रीय सिद्धान्तों पर खरी उतरती है, वहाँ कृष्ण भक्ति की परम्परा के ग्रनुसार भी है । वस्तुतः सूर ग्रपने समय के ही नहीं, ग्रपने सम्प्रदाय के ही नहीं, वरन् सर्वकाल के ग्रौर सभी सम्प्रदायों के संगीताकार्य है ।

प्रश्न २१—भ्रमरगीत काव्य परम्परा का उल्लेख करते हुए विभिन्न भ्रमरगीतों के स्वरूप की तुलना कीजिये तथा सूर के भ्रमरगीत की विशेषताओं पर दृष्टिपात कीजिये ।

भ्रमरगीत काव्य-परम्परा का मूल श्रीमद्भागवत का भ्रमरगीत है । श्रीमद्भागवत के ग्रनुसार श्रीकृष्ण के भेजे हुए उद्धव ब्रज में ग्राते हैं तथा नन्द ग्रौर यशोदा से कृष्ण के ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । उद्धव जी भगवान् श्रीकृष्ण के निर्विकार, ग्रज, ग्रनादि, ग्रनन्त ग्रौर सर्वव्यापी रूप का निवेदन करके नन्द ग्रौर यशोदा ग्रादि को उनके उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिए ज्ञान का उपदेश देते हैं । बाद में गोपियाँ उन्हें एकान्त में ले जाती हैं । उसी समय एक भ्रमर भ्रमता हुग्रा वहाँ ग्रा जाता है ग्रौर गोपियाँ भ्रमर

के बहाने उपालम्भ करना आरम्भ कर देती हैं। गोपियों का भ्रमर को सम्बोधन करके उपालम्भ करना ही भ्रमर गीत के नाम से पुकारा जाता है।

भ्रमरगीत की परम्परा

महात्मा सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत के आधार पर ही 'सूरसागर' की रचना की थी, किन्तु उसमें अनेक नवीनताओं को जन्म देकर अपनी मौलिकता का प्रदर्शन भी किया है। सर्वप्रथम सूरदास जी ने ही हिन्दी में भ्रमर-गीत की रचना की। भ्रमरगीत की लोक-प्रियता इन्हीं के कारण बहुत अधिक हुई। इन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा से अपने भ्रमर-गीत मे परिवर्तन कर दिया है। सूरदास के भ्रमर-गीत के अनुसार उद्धव ब्रज मे आकर नन्द और यशोदा के समीप नही जाते। गोपियाँ उनके रथ को दूर से ही देखती हैं। उन्हें सन्देह होता है कि सभवतः कृष्ण जी आ गये। मिलने पर कृष्ण-सखा उद्धव मिले और गोपियो ने कुशल-मगल पूछा। उद्धव जी गोपियों के कृष्ण-मोह को दूर करने के लिए ज्ञान की बातें करते हैं। गोपियाँ उनकी बातों का उन्हें उत्तर देती हैं। उत्तर देते देते ही श्रीमद्भागवत के भ्रमर-गीत के आधार पर सूरदास जी भ्रमर की कल्पना करके गोपियो द्वारा 'भ्रमर', अलि', 'मधुप' आदि सम्बोधनों द्वारा गोपियो की दशा का चित्रण करना आरम्भ कर देते हैं। सूरदास जी उद्धव और गोपियों के आधार पर एक ओर ज्ञान की नीरसता और भक्ति की सरसता दिखा कर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं और दूसरी ओर विरह और उपालम्भ-काव्य का एक अनुपम नमूना उपस्थित करते हैं। गोपियाँ कृष्ण से कभी अपना 'सहज लरिकाई का प्रेम' बताकर उद्धव के सम्मुख अपनी विवशता प्रकट करती हैं और कभी—

"एक हुतो सो गयो स्याम सग को अवराधै ईस"

तथा—

"अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े"

अन्त में उद्धव जी की स्पष्ट हार होती है। गोपियों के उत्तरों की तार्किकता वास्तव में देखते ही बनती है। बेचारे उद्धव जी कभी तो वेद-पुराणों की दुहाई देने तथा कभी योग की लोक-प्रसिद्धि बताने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं पाते। इस प्रकार की गोपियों की तार्किकता न तो श्रीमद्भागवत में ही है और न सूर के भ्रमरगीत में ही। हाँ सूरदास जी का एक पद—

"ऊधो को उपदेश सुनहु किन कान दे"

अवश्य ही कुछ इस पद्धति का प्रतीत होता है। यह पद भ्रमरगीत के अन्य पदों से कुछ बड़ा भी है। वाद-विवाद का थोड़ा सा क्रम भी इसमें दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्ददास जी ने इसी पद का आधार लेकर अपने भ्रमर-गीत की सविस्तार रचना की है। इनके तर्कों में साम्प्रदायिकता की छाप है।

नन्ददास जी के पश्चात् तो कुछ ऐसी परिपाटी बन गई कि कृष्ण-काव्य पर रचना करने वाले प्रत्येक कवि के लिए 'भ्रमर-गीत' सम्बन्धी कुछ न कुछ रचना करना अनिवार्य-सा हो गया। इस प्रसंग पर तो रीतिकालीन कवियों तक ने स्फुट पदों की रचना की है। आधुनिक-काल में इस सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भी अनेक पद प्राप्त होते हैं, किन्तु कथा के रूप में भ्रमरगीत श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास', श्री प० सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमरदूत' तथा श्री जगन्नाथदास रत्नाकर के 'उद्धव शतक' में ही प्राप्त होता है। प० सत्यनारायण का 'भ्रमर-दूत' राष्ट्रीय-भावना से ओत-प्रोत है। यह गोपियों का 'भ्रमरगीत' नहीं है। इसमें तो यशोदा (भारत माता) श्रीकृष्ण के पास अपना भ्रमर-दूत भेज रही हैं और इस प्रकार उन्हें बुलाने का प्रयत्न करती हैं। 'प्रियप्रवास' का 'भ्रमरगीत' आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। हाँ, रत्नाकर जी के उद्धव शतक में सूरदास तथा नन्ददास जी के भ्रमरगीत का स्वरूप अवश्य है। इसमें यमुना स्नान के समय कमल पुष्प को देखने से श्रीकृष्ण को राधा का स्मरण हो उठता है और वे प्रेम-

सूरदास जी का तीसरा भ्रमरगीत वास्तव मे बहुत महत्वपूर्ण है। इसमे सूर की प्रतिभा और कवित्व-शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। इस भ्रमर-गीत मे कई सौ पद हैं। सारा वृतान्त यहाँ विस्तृत रूप मे चलता है। मध्य मे भ्रमर का आगमन दिखलाया है और गोपियाँ इस भ्रमर को सम्बोधन करके उद्धव से उपालम्भ-भरे शब्द कहती हैं। इसमें गोपियो और उद्धव का प्रश्नोत्तर रूप मे वार्तालाप नहीं चलता है। पहिले उद्धव जी गोपियो को ज्ञान और योग का उपदेश देते हैं और गोपियाँ सुनती रहती हैं। इसके पश्चात् गोपियों के कथन चलते हैं और उद्धव जी चुप रहते हैं। गोपियो का उक्ति-वैचित्र्य व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य इस तीसरे भ्रमर-गीत में देखने ही बनता है।

सूर का भ्रमरगीत

इस भ्रमरगीत प्रसंग को इस प्रकार का चित्रित करने का सूर का एक मुख्य उद्देश्य था। बात यह थी कि उस समय धर्म के मामले में विवादो का बोल-बाला था। ज्ञानमार्गी सन्तों का प्रभाव इतने विशद रूप मे पड़ा हुआ था कि लोग ज्ञान-मार्ग को ही ईश्वरोन्मुख होने का एक मात्र साधन समझते थे, किन्तु यह प्रभाव-स्थायी न रह सका और लोगो के हृदय में ज्ञान के स्थान पर भक्ति-भावना ने अपना स्थान बना लिया था। अब लोगों ने ज्ञान को शुष्क तथा अनुपयोगी बतलाकर भक्ति को प्रधानता देनी आरम्भ कर दी। इस प्रकार सूरदास के समय में ज्ञान और भक्ति मे किसे श्रेष्ठ बनाया जाय, यह विवाद जोरो पर था। सूरदास के भ्रमर-गीत पर इसी विवाद का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपने इस प्रसंग में ज्ञान के समक्ष भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। अतः स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि सूर के भ्रमर-गीत का मुख्य उद्देश्य निर्गुणवाद का खंडन और सगुणवाद का मंडन है।

सूरदास जी की गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को सुनकर अत्यन्त खिन्न होती है। वे उनके ब्रह्म के प्रति अपनी कोई आस्था प्रदर्शि ,

तुमरी अकथ कथा तुम जानो हमें निज नाथ बिसरायो ।
सूर स्याम सुन्दर यह सुनि सुनि नैनन नीर बहायो ।"

विरह-वर्णन

ये तो हुई सूरदास के भ्रमर-गीत के प्रसग-विशेष की विशेषतायें । उनका यह काव्य कुछ अपनी निजी विशेषतायें भी रखता है जिनके कारण हिन्दी साहित्य में उसे अमर स्थान प्राप्त हुआ है । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है—

"वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं । जितने ढग से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं ।"

सूर ने भ्रमरगीत मे वियोग की सारी अवस्थाओं के सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं । कृष्ण वियोग से व्यथित गोपियों के नाना भाव इसमे दृष्टिगत होते हैं । विरह की ग्यारह अवस्थायें वतलाई जाती हैं—

१. अभिलाषा
२. चिन्ता
३. स्मरण
४. गुणकथन
५. उद्वेग
६. प्रलाप
७. उन्माद
८. व्याधि
९. जड़ता
१०. मूर्च्छा
११. मरण ।

भ्रमरगीत में उपर्युक्त सारी भावनाओं के सुन्दर उदाहरण
।

भ्रमरगीत में सूर के वियोग-वर्णन में विविधता और विस्तार तो है ही साथ ही, उसमें स्वाभाविकता और गहनता भी लक्षित होती है। विरह के अनेक स्थलों पर तो ऐसी उक्तियाँ हैं जो अत्यन्त हृदय-स्पर्शी हैं। कृष्ण के विरह में केवल गोपियाँ ही दुखी नहीं हैं, वरन् नन्द, यशोदा, ग्वाल-बाल, पशु-पक्षी तथा जड़-चेतन सभी भ्रमरगीत में दुखी दिखाये गये हैं। वास्तव में बात यह है कि वियोग में वे सब वस्तुएँ जो संयोग में सुखद प्रतीत होती थीं, दुख का कारण बन जाती हैं। बिना गोपाल के गोपियों को कुंजें बैरिन प्रतीत होती हैं। चन्द्रमा की शीतल किरणें वियोग में उनको जला देने वाली बन जाती हैं। इससे भी आगे एक बात और है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने मन के अनुसार ही दूसरों की परख करता है। विपरीत वातावरण उसे खलता है। गोपियाँ दुखी हैं, अतः उन्हें सारा विश्व ही दुःखी दिखाई देता है। किन्तु जब वे वन को हरा भरा देखती हैं तो उनके लिये असहनीय हो जाता है और वे कह उठती हैं—

> "मधुबन तुम कत रहत हरे।
> विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
> तुम हो निलज लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
> ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक् धिक् सबन करे।"

विरह-वर्णन की इससे अधिक व्यापकता और क्या हो सकती है? इसके अतिरिक्त गोपियों की सरलता और अनन्यता के साथ-साथ उनकी वाक् पटुता उक्त वैचित्र्य तथा वाग्वैदग्ध्य भी देखते ही बनता है। निम्न लिखित उदाहरण इस दृष्टि से दृष्टव्य हैं—

"उर में माखन चोर गड़े।

अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ॥"

× × × ×

"हरि काहे के अन्तर्यामी ।
जो हरि मिलत नहीं यह अवसर अवधि बतावत लामी ।"

× × × ×

"लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटत ।"

× × × ×

"आयो घोष बड़ो व्यापारी ।"
लादि खेप गुन ग्यान जोग की ब्रज में आन उतारि ।"

× × × ×

"जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं ।"

× × × ×

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने ।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाय पठायो तुम ही बीच भुलाने ।

× × × ×

"साँच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने ।
'सूर' स्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने ॥"

× × × ×

'ऊधो मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै

संगीतात्मकता

अब तनिक सूर
विशेषताओं पर
जिन्होंने
के

फिर तो इसमें अनेक कवियों ने अपनी रचनायें कर डालीं। संगीतात्मकता भी सूर के भ्रमरगीत की एक अनुपम विशेषता है। उन्होंने पदों को विविध राग एवं तालों के अनुसार लिखा है। वे स्वयं भी एक अच्छे गायक थे। उनके इसी गुण की प्रशंसा में किसी ने ठीक ही कहा है—

> "किधौं सूर को सर लग्यौ किधौं सूर की पीर।
> किधौं सूर को पद लग्यौ तन मन धुनत सरीर।"

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भी भ्रमर-गीत में अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। अलंकारों के प्रयोग ने काव्य की शोभा में चार चाँद लगा दिये हैं। सभी अलंकारों के उदाहरण न देकर केवल सागरूपक का एक उदाहरण प्रस्तुत करके इस प्रसंग को यहाँ समाप्त किया जाता है—

> "प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
> जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी॥
> मुरली मधुर चेंप कर काँपो, मोर चन्द्र ठटवारी।
> बंक बिलोकनि लूक लागि बसि, सकी न तनहुँ सम्हारी॥
> तलफत छाँड़ि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार।
> सूरदास वा कलप तरोवर, फेरि न बैठी डार

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि हिन्दी में भी भ्रमरगीत-काव्य-परम्परा सूर से ही प्रारम्भ होती है और सूर में ही अपनी चरम कोटि पर परिलक्षित होती है।

प्रश्न २१—महात्मा सूरदास के दार्शनिक विचारों का परिचय दीजिये।

दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करना भक्तराज सूरदास का उद्देश्य नहीं था। महात्मा सूरदास का संस्कृत ज्ञान भी गंभीर नहीं था। भागवत की कथा

भी उन्होंने स्वयं पढ़ी नहीं थी, प्रत्युत अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य से उनकी अनुक्रमणिका सुनी थी। पुष्टिमार्ग के धार्मिक सिद्धान्त भी उन्होंने महाप्रभु से सुने थे। समय समय पर सम्प्रदाय की बैठकों में दार्शनिक तत्वों का जो विवेचन होता था उसे भी उन्होंने आचार्य महा प्रभु के मुखारविन्द से ही श्रवण किया था। इस तथ्य की स्वीकृति स्वयं सूरदास जी ने इन शब्दों में दी है—

"माया काल कछू नहि व्यापे, यह रस रीति-जु-जानी।
सूरदास यह सकल सामग्री, गुरु प्रताप पहिचानी॥"

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें दर्शनशास्त्र का ज्ञान ही नहीं था। यह ठीक है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान नहीं था। यह भी अक्षरशः सत्य है कि उन्होंने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, किन्तु इतना सभी मानेंगे कि वे ऐसी परिस्थितियों में अवश्य रहे थे जिनमें रहकर उन्हें दर्शन-शास्त्र का ज्ञान हो गया था। इसका प्रमाण उनका ग्रन्थ 'सूरसागर' है जिसमें माया, जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिक उक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

पुष्टिमार्ग से दार्शनिक सिद्धान्त

महात्मा सूरदास के दार्शनिक विचारों को जानने के लिए पुष्टिमार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों को जान लेना परमावश्यक है क्योंकि उनके दार्शनिक सिद्धांत इसी सम्प्रदाय से प्रभावित हैं। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी के मतानुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। सत्, चित् आनन्द तथा रस इनके गुण हैं। इन्हीं से जीव तथा प्रकृति उत्पन्न हुए हैं। जीव में कृष्ण के सत तथा चित गुणों का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु आनन्द तिरोभूत रहा। जड़ प्रकृति में उनके सत तत्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित तथा आनन्द तिरोभूत रहे। वास्तव में यदि देखा जाय तो तीनों तत्वों की यही विभिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। माया का इसमें कोई हाथ नहीं है। इस मत के अनुसार जितना ब्रह्म सत्य है उतना ही जीव भी। जीव और ब्रह्म में कोई विभेद नहीं है। दोनों वास्तव में एक ही हैं। हाँ, एक प्रकार अवश्य

है। जीव की शक्ति परिमित है क्योंकि वह पूर्ण शक्ति ब्रह्म का केवल अंश है। इसके विपरीत पूर्ण होने के कारण ब्रह्म की शक्तियाँ अपरिमित हैं प्रकृति भी जीव के समान ब्रह्म का एक अंशमात्र ही है। आनन्द तथा सत् के तिरोभाव से उसका विकास होता है।

मुक्ति के सम्बन्ध में भी श्री आचार्य जी के विचार जानने योग्य हैं। इस सम्बन्ध मे विचार करते हुए उन्होंने आत्मायें तीन प्रकार की मानी हैं—

१. मुक्ति योगिन
२. नित्य संसारिन
३. तमोयोग।

नित्य संसारिन आत्मा को मुक्ति नहीं होती। तमोयोग आत्मायें इनसे भी निकृष्ट हैं। केवल मुक्ति योगिन आत्मायें ही ऐसी हैं जो मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं, किन्तु ये आत्मायें भी परब्रह्म के अनुग्रह के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती। इसी अनुग्रह को 'पुष्टि' नाम से अभिहित किया गया है। इस मत के अनुसार भक्ति और अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य होना चाहिये। इस मत में यह पुष्टि भी चार प्रकार की मानी जाती है—

१. प्रवाह-पुष्टि
२. मर्यादा पुष्टि
३. पुष्टि-पुष्टि
४. शुद्ध पुष्टि।

प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति में लगा रहता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त समस्त सांसारिक सुखों से अपना हृदय खींच लेता है। ये भक्त श्रीकृष्ण के गुणगान तथा कीर्तन द्वारा उनकी भक्ति करते हैं। पुष्टि-पुष्टि में श्रीकृष्ण का अनुग्रह हो

प्राप्त होता है, किन्तु इसके साथ साथ भक्त की साधना भी बनी रहती है। शुद्धपुष्टि में भक्त श्रीकृष्ण पर पूर्णतया आश्रित हो जाता है। भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होने पर उसके हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी तीव्र तथा गहन अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पुष्टिमार्ग में यही पुष्टि सर्वोच्च मानी जाती है।

माया के विषय मे भी श्री आचार्य जी के विचार जान लेना अनुपयोगी एवं अप्रासंगिक न होगा। इनके मतानुसार परमात्मा से आत्मा और प्रकृति के विकास होने में माया का कोई हाथ नही होता। माया जिस प्रकार पारमार्थिक सत्ता को हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है उसी प्रकार उससे मिलाने में भी यही हमारी सहायक बनती है। श्री शंकराचार्य का मत इससे भिन्न है। उनके मतानुसार जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता माया के कारण ही दिखाई देती है। इसके विपरीत श्री आचार्य जी के मतानुसार जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता सत्य है और यह भिन्नता परमात्मा के कारण ही है। वे माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं।

सूर के दार्शनिक विचार

महात्मा सूरदास श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य अवश्य हैं और उनके पुष्टिमार्ग से प्रभावित भी हुए हैं, किन्तु उनके सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन उन्होंने नही किया है। पुष्टि या मर्यादा शब्द 'सूरसागर' में कही देखने को भी नही मिलता। आविर्भाव, तिरोभाव जैसे पारिभाषिक शब्द जो श्री आचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों में स्थान स्थान पर मिलते हैं, 'सूरसागर' में दृष्टिगत भी नही होते। श्री आचार्य जी 'माया' की तुलना 'कनक कशिपु वस्त्र' से करते हैं जबकि सूरदास जी उसे 'काली कमरी' मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'राधा' सूरदास की नितान्त मौलिक कल्पना है। उन्होंने राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है और श्री आचार्य जी के सिद्धान्तो मे राधा का कोई स्थान ही नहीं है।

महात्मा सूरदास के कृष्ण पूर्णब्रह्म हैं। वे सगुण भी हैं और निगु
कई स्थलों पर सूरदास जी ने विष्णु, हरि आदि शब्दों का प्रयोग भी
है। प्रयोग ही नहीं, उन्होंने इनकी वन्दना भी की है। राम-कथा का
भी सूर ने किया है। सूर का मन जितना कृष्ण के गुण-गान में लग
उतना अन्यत्र नहीं। वस्तुतः विष्णु, हरि और राम सभी कृष्ण के ही नाम
ये सब निराकार ब्रह्म के सगुण रूपों के नाम ही हैं। सूरदास जी
कृष्ण भी मूल रूप में तो निर्गुण ही हैं, किन्तु भक्त जनों के आनन्द
उन्होंने इस रूप में अवतार ले लिया है। उनके निर्गुण रूप को स्पष्ट कर
वाली ये पंक्तियाँ देखिये—

"को माता को पिता हमारे।
कब जनमत हमको तुम देख्यो, हंसी लगत सुनि बात हमारे॥"

तथा

"पिता मात इनके नहिं कोई।
आपुहि करता, आपुहि हरता, निर्गुण भये ते रहत हैं ओई॥"

फिर भी सगुणोपासना को उन्होंने अपना ध्येय क्यों बना लिया, इस बात का उत्तर वे उस पद में स्पष्ट रूप में दे रहे हैं—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥"

इस प्रकार सूरदास जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का अवलोकन करने पर होता है कि उनके कृष्ण के दो रूप हैं—निराकार तथा साकार। मूल

रूप में तो वे निर्गुण ही हैं, किन्तु भक्त जनों को आनन्दित करने के हेतु अवतार लिये हुए हैं।

माया

सूरदास जी ने माया का वर्णन भी तीन रूपों में किया है—

१. माया का दार्शनिक रूप

२. माया का सांसारिक रूप

३. माया का राधा-रूप।

अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य के समान सूरदास जी भी माया को ब्रह्म के वंश में मानते हैं। वे माया को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते। उनके मतानुसार प्रलय के पश्चात् वह ब्रह्म के पदों में ही समा जाती है। वह ब्रह्म का ही अंश है, किन्तु माया का त्रिगुणात्मक रूप ब्रह्म को आवृत कर लेता है। सत्य को भुलावा देकर वह असत् अर्थात् अविद्या को जन्म देती है। जीवात्मा माया के आवरण को ही सत्य मानती है और वास्तव में यही अविद्या है। इस प्रकार माया का दूसरा नाम अविद्या भी माना जा सकता है। 'सूरदास की सबै अविद्या दूर करो नंदलाल' कहकर भक्तराज सूरदास ने इसी की ओर संकेत किया है। सूर उसे भगवान् की शक्ति का दृढ़ आधार मान लेते हैं। इस दृष्टि से यह पद दर्शनीय है—

> "यह कमरी कमरी करि जानति।
> जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति॥
> या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटंबर।
> सो कमरी तुम निंदति गोपी जो तीन लोक आडम्बर॥
> कमरी के बल असुर संहारे कमरिहि तैं सब भोग।
> जाति पाँति कमरी सब मेरी 'सूर' सबहि यह योग॥"

सूर की यह कमरी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। तीनों लोक उसी से ढके हुए हैं। उसी की ही शक्ति से वे असुरों का संहार करते हैं और उसी की

शक्ति रसानन्द लीलाओं में निहित है। कमरी ही योग है, कमरी ही भोग है। वही शक्ति है और वही कृष्ण को जानने की कुंजी। वस्तुतः यह कमरी कृष्ण की रहस्यमयी योगमाया है। उसे हम अपनी बुद्धि के अनुसार विभिन्न रूपों में समझते हैं। इस अविद्या का वर्णन सूर के शब्दों में इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

> "माधव जू मेरी इक गाई।
> अब आजु तें आपु आगे दई लै आइये चराई॥
> है अति हरियाई हटकत हू बहुत अमारग जाति।
> फिरत वेद बन ऊख उखारत सब दिन अरु सब राति॥"

माया का दूसरा रूप जो 'सूरसागर' में वर्णित है, सांसारिक माया है। यह माया का मोहकारी रूप है। यह नारी के सौन्दर्य के रूप में विशेष रूप से विकसित होता है। यह भक्त की साधना में बाधा के रूप में उपस्थित होती है। यह माया का उच्छृङ्खल तथा उपद्रवी रूप है। सूर ने इसे गाय का रूप देकर वर्णन किया है—

> "माधव जूं नेकु हटकौ गाइ।
> निसि बासर यह इत उत भरमति अगम नहिं नहिं जाइ॥"

माया का तीसरा रूप राधा-रूप है। राधा भी माया की भाँति कृष्ण की शक्ति ही है। वास्तव में राधा माया के अनुग्रहकारी रूप में विभिन्न है जिस प्रकार त्रिदेवों के साथ तीनों शक्तियाँ सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती सम्बन्धित है उसी प्रकार राधा कृष्ण के साथ सम्बन्धित है। राधा और कृष्ण के इस प्रकार के दार्शनिक सम्बन्ध का प्रकटीकरण इन पंक्तियों से द्रष्टव्य है—

> "ब्रजहिं बस आपुहिं बिसरायौ।
> प्रकृति-पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायौ॥"

× × × ×

"तब नागरि मन हर्ष भई ।
नेह पुरातन जानि स्याम को प्रति आनन्द भई ।
प्रकृति पुरुष नारी में वे पति काहे भूलि गई ॥"

यही कारण है कि सूरदास जी राधा से भक्ति का वरदान माँगते हैं।

मुक्ति का साधन

सूर के मतानुसार सच्ची भक्ति ही मुक्ति का साधन है। यद्यपि अपनी रचनाओ मे उन्होने पुष्टि अथवा मर्यादा का नाम कही नहीं लिया है किन्तु उनके पदों से यह स्पष्टत., प्रमाणित होता है कि उन पर श्री वल्लभाचार्य जी का पूरा-पूरा प्रभाव था। मनुष्य मे काम, क्रोध आदि अनेक दुर्लभ प्रवृतियाँ होती हैं। ये प्रवृतियाँ ईश्वर के अनुग्रह से दूर हो सकती हैं। महात्मा सूरदास की कल्पना शुद्धाद्वैत की कल्पना है। वे सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते। वे तो इस सान्निध्य मुक्ति के इच्छुक हैं जिसमे जीव अपनी सत्ता बनाये रखता है।

प्रश्न २३—सिद्ध कीजिये कि सूर के पदों में काव्य के अन्तरंग एव बहिरंग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं।

काव्य के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। श्रेष्ठ काव्यकारों के काव्यों मे ये दोनों पक्ष ही उत्कृष्ट रूप मे पाये जाते हैं। कवि को अपनी रचना मे जीवन की अनुभूतियो एवं नवीन उद्भावनाओं को प्रस्तुत करना होता है। जीवन की ये अनुभूतियाँ कल्पना का आधार लेकर पाठक या श्रोता के हृदय को आन्दोलित कर देने वाली होती हैं। पाठक या श्रोता अपने व्यक्तिगत स्थूल जगत् के ऊपर उठ कर रसास्वादन करता है। काव्य मे उन तथ्यों का भी निरूपण रहता है जिनसे मनुष्य जीवन के चरम तथ्य को प्राप्त करने का भी अधिकारी होता है। इस प्रकार का सुन्दर तथा उच्च भाव और सन्देश जब काव्योपयुक्त शैली में व्यक्त होते हैं। तभी सुन्दर काव्य-सृजन हुआ करता है। महात्मा सूरदास के पदों मे यह विशेषता पूर्ण रूप से प्राप्त है

शक्ति रसानन्द लीलाओं में निहित है। कमरी ही योग है, कमरी ही भोग है। वही शक्ति है और वही कृष्ण को जानने की कुंजी। वस्तुतः यह कमरी कृष्ण की रहस्यमयी योगमाया है। उसे हम अपनी बुद्धि के अनुसार विभिन्न रूपों में समझते हैं। इस अविद्या का वर्णन सूर के शब्दों में इन पंक्तियों में दर्शनीय है—

"माधव जू मेरी इक गाई।
अब आजु तें आपु आगे दई ले आइये चराई॥
है अति हरियाई हरकत हू बहुत अमाण जाति।
फिरत वेद बन ऊख उखारत सब दिन कर सब राति॥"

माया का दूसरा रूप जो 'सूरसागर' में वर्णित है, सांसारिक माया है। यह माया का मोहकारी रूप है। यह नारी के सौन्दर्य के रूप में विशेष रूप से विकसित होता है। यह भक्त की साधना में बाधा के रूप में उपस्थित होती है। यह माया का उच्छृङ्खल तथा उपद्रवी रूप है। सूर ने इसे गाय का रूप देकर वर्णन किया है—

"माधव जू नेकु हर को गाइ।
निसि बासर यह इत उति भरमति अगथ गहि नहिं जाइ॥"

माया का तीसरा रूप राधा-रूप है। राधा भी माया की भाँति कृष्ण की शक्ति ही है। वास्तव में राधा माया के अनुग्रहकारी रूप में चित्रित है जिस प्रकार त्रिदेवों के साथ तीनों शक्तियाँ सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती सम्बन्धित है उसी प्रकार राधा कृष्ण के साथ सम्बन्धित है। राधा और कृष्ण के इस प्रकार के दार्शनिक सम्बन्ध का प्रकटीकरण इन पंक्तियों में दृष्टव्य है—

'ब्रजहि बसे आपुहि बिसरायौ।
प्रकृति-पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो॥"

× × × ×

"तब नागरि मन हर्ष भई ।
नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनन्द भई ।
प्रकृति पुरुष नारी में वे पति काहे भूलि गई ॥"

यही कारण है कि सूरदास जी राधा से भक्ति का वरदान माँगते हैं।

मुक्ति का साधन

सूर के मतानुसार सच्ची भक्ति ही मुक्ति का साधन है। यद्यपि अपनी रचनाओं में उन्होंने पुष्टि अथवा मर्यादा का नाम कहीं नहीं लिया है किन्तु उनके पदों से यह स्पष्टतः, प्रमाणित होता है कि उन पर श्री वल्लभाचार्य जी का पूरा-पूरा प्रभाव था। मनुष्य मे काम, क्रोध आदि अनेक दुर्लभ प्रवृतियाँ होती हैं। ये प्रवृतियाँ ईश्वर के अनुग्रह से दूर हो सकती हैं। महात्मा सूरदास की कल्पना शुद्धाद्वैत की कल्पना है। वे सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते। वे तो इस सान्निध्य मुक्ति के इच्छुक हैं जिसमे जीव अपनी सत्ता बनाये रखता है।

प्रश्न २३—सिद्ध कीजिये कि सूर के पदों में काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं।

काव्य के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। श्रेष्ठ काव्यकारों के काव्यों में ये दोनों पक्ष ही उत्कृष्ट रूप में पाये जाते हैं। कवि को अपनी रचना में जीवन की अनुभूतियों एवं नवीन उद्भावनाओं को प्रस्तुत करना होता है। जीवन की ये अनुभूतियाँ कल्पना का आधार लेकर पाठक या श्रोता के हृदय को आन्दोलित कर देने वाली होती हैं। पाठक या श्रोता अपने व्यक्तिगत स्थूल जगत् के ऊपर उठ कर रसास्वादन करता है। काव्य मे उन तथ्यों का भी निरूपण रहता है जिनसे मनुष्य जीवन के चरम तथ्य को प्राप्त करने का भी अधिकारी होता है। इस प्रकार का सुन्दर तथा उच्च भाव और सन्देश जब काव्योपयुक्त शैली में व्यक्त होते हैं। तभी सुन्दर काव्य-सृजन हुआ करता है। महात्मा सूरदास के पदों में यह विशेषता पूर्ण रूप से प्राप्त है।

उनके पद हृदय की गहरी अनुभूतियों से युक्त तो हैं ही, साथ ही उनमें भाषा की चित्रमयता, रसात्मकता तथा आलंकारिता भी है। उनके पदों में काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं।

भावपक्ष

महाकवि सूरदास भाव-जगत् के सुन्दर चितेरे हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के बाल-वर्णन को ही देख लीजिये। पं० रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार वे बाल-जीवन का कोना-कोना झाँक आये हैं। बाल-मनोविज्ञान का इस नेत्र विहीन कवि को अद्भुत एवं पूर्ण ज्ञान था। बालकों की प्रत्येक मनोहारी वृति का चित्रण सूर के पदों में प्राप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण का रूप-वर्णन, उनकी बाल-सुलभ चेष्टायें, मातृ-हृदय का सजीव-चित्र, बाल-क्रीडा, गोचारण, माखन चोरी, कृष्ण और राधा का स्वाभाविक मिलन, प्रणय आदि कितने ही प्रसंगों के इतने स्वाभाविक, सरस एवं मर्म स्पर्शी चित्रण हैं कि कहते नहीं बनता। सभी उक्त प्रसंग हृदय का खुला रूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। नीरस से नीरस हृदय भी इन प्रसंगों को पढ़ कर अथवा सुनकर विह्वल हो उठते हैं। पदों के बीच-बीच में कृष्ण की चतुरता-युक्त वाणी प्रत्येक जन के हृदय को हर लेती है। बाल-वर्णन से सम्बन्धित यह पद कितना सरल एवं सरस है—

"यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ, मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहि वेगिहि आवै तो को कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै॥
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नँद भामिनी पावै॥।"

बाल-मनोविज्ञान का कितना स्वाभाविक चित्रण है। पद को पढ़ते ही कवि की मनोहारी कल्पना पाठक को स्पष्ट दृष्टिगत होती है। पालने मे पड़ा हुआ बच्चा तथा लोरी गाती हुई माँ का प्रत्यक्ष चित्र इस पद मे है।

रस-योजना

शृंगार-वर्णन के अन्तर्गत संयोग-प्रसंग के चित्रण भी अत्यन्त हृदयहारी हैं। रूप-लिप्सा के कारण सूरदास जी के गोप-गोपियों के प्रणय में अपूर्व सौन्दर्य है। राधा और कृष्ण का प्रणय अत्यन्त स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है। रसिक शिरोमणि मनमोहन गोपियों के हृदय का हार बने हुए हैं। यत्र-तत्र कवि शृंगारिकता की दुर्गन्धि से पाठक को बचाने के हेतु श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का भी संकेतात्मक उद्घाटन कर देते हैं। किन्तु सर्वत्र हृदय पक्ष की प्रधानता ही लक्षित होती है। ईश्वरत्व के उद्घाटन से रस मे कही भी अभाव नहीं आने पाया है। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। दान-लीला प्रसंग के अन्तर्गत जब श्रीकृष्ण अपने को ईश्वर बताते हैं तो गोपियाँ उनका उपहास कर डालती हैं। यह उपहास अलौकिकता तथा ईश्वरत्व की गम्भीरता के संकेतात्मक प्रकटीकरण के होते हुए भी रस की पृष्टिभूमि को नही बिगड़ने देता।

अब तनिक भ्रमर-गीत प्रसंग से भी एक उदाहरण लेकर देखिये कि सूर के पदों मे अनुभूति की गहराई कितनी है।

"उर में माखन चोर गड़े।

अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े।"

गोपियों की इस विवशता को सुन कर उद्धव जी तो तर्क-रहित हो ही गये होंगे, पाठक भी आगे पढ़ने से रुक जाता है। उसका हृदय स्वयं वेदना से भर जाता है। ऐसा लगता है जैसे उसके हृदय पर कोई गहरी चोट पड़ी हो। उक्त पंक्तियों मे गोपियों की वचन-विदग्धता तो दर्शनीय है ही, अनुभूति का

गांभीर्य भी दृष्टव्य है। हृदय में टेढ़े होकर खड़े हुए त्रिभंगी मूर्तिधारी कृष्ण व चित्र पाठक के नेत्रों के सामने नाच जाता है। वास्तव में तो बात यह है कि भ्रमर-गीत की कल्पना जो सूरदास जी ने की, वह प्रसंग कृष्ण-काव्य क प्राण ही बन गया है। गोपियों की हृदयस्थ वेदना की जो धारा सूर ने बहाई उसमें समस्त रसिक-समाज बहता चला आ रहा है और सदैव बहता रहेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि वात्सल्य और शृंगार-रस के चित्रण सूरदा जी की गहरी अनुभूति के स्पष्ट प्रमाण हैं। इन दो रसों में कवि अपनी तुलन. नहीं रखता, यह सर्व विदित है। वात्सल्य और शृंगार रस की दृष्टि से 'सूरसागर' और उसके रचयिता महात्मा सूरदास को जो ख्याति प्राप्त हुई है, उसकी तुलना मिलना वास्तव मे असंभव है। इतना होने पर 'सूरसागर' की आत्मा शान्त रस ही मानी जाएगी। शान्त रस के चित्रण में भक्तराज सूरदास जहाँ अपने प्राकृत रूप में हमारे सामने आते हैं, वहाँ वे कवि से अधिक विनय-शील भक्त हैं। भक्ति-रस का एक उदाहरण देखिये—

> 'अब के माधव मोहि उभारि।
> मगन हौं भव अम्बु निधि में कृपा सिंधु मुरारि॥
> नीर अति गम्भीर माया लोभ लहर तरंग।
> लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥"

संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में भी निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत करना अप्रासंगिक एवं अनुपयोगी नहीं होगा—

> "हरि बिन कोऊ काम न आयो।
> यह माया झूठी प्रपंच लगि रतन सो जनम गँवायो॥"

वस्तुतः सूरदास जी शान्त, वात्सल्य एवं शृंगार रस के ही कवि हैं, किन्तु वैसे लगभग सभी रसों के वर्णन 'सूरसागर' में प्राप्त हो जाते हैं। यह तो निश्चित है कि वात्सल्य और शृंगार के वर्णनों में जो अनुभूति की गहराई

दिखाई देती है वह अन्य रसों के वर्णनों में नहीं है। सूरदास जी का मन जितना इन दो मानव-मन की भावनाओं में रमा है उतना अन्यत्र नहीं। तथापि अन्य रसों के वर्णनों में भी महाकवि सूर का महाकवित्व कहीं न कहीं दिखाई दे ही जाता है। अन्य रसों का भी एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है—

अद्भुत—"कर गहि पग अंगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रंग खेलत॥
सिव सोचत बिधि बुद्धि विचारत बट बाढ्यो सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि के दिगपति दिग दंतिन न सकेलत॥"

भयानक—'चरन गहे अंगूठा मुख मेलत।
उछलत सिंधु धराधर काँप्यो, कमट पीठि अकुलाई॥"

वीर— "सैन साजि ब्रज पर चढ़ि धावहि।
प्रथम बहाइ देहुँ गोवर्धन ता पाछे ब्रज खोदि बहावहि॥"

करुण— "अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि श्रम जल अंतर तनु भीजें ता लालच न धुवावति सारी॥"

मुरली प्रकरण

उपर्युक्त समस्त विवेचन तथा प्रमाण के लिए दिये गये उदाहरण स्पष्टतः इस तथ्य के परिचायक हैं कि भावपक्ष के बुद्धि, कल्पना और रागात्मक तीनों ही तत्वों का सुन्दर समन्वय सूरदास जी के पदों में प्राप्त होता है। किन्तु तो भी मुरली प्रकरण का संकेतात्मक विवरण देने का लोभ हमसे संवरण नहीं हो पा रहा है। यह प्रकरण भी अत्यन्त काव्योपयुक्त है। गोपियाँ मुरली के प्रति सपत्नी भाव रखती हैं। मुरली पर सपत्नी का आरोप करना भी खूब है। यह प्रसंग जितना काव्योपयुक्त है, उतना ही भावपूर्ण भी है। कवि के हृदय की गहरी अनुभूतियाँ इसमें स्पष्टतः दिखाई देती हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"माई री ! मुरली अति गर्व काहू बदति नहिं आज ।
हरि के मुख कमल देखु पायो सुखराज ।"

× × × ×

"मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुनि, री सखी ? जदपि नन्द नन्दहि नाना भाँति नचावति ।
राखति एक पाँव ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति ।
अति आधीन सुजान कनौड़ो गिरधर नारि नवावति ।
भृकुटि कुटिल कोप नासापुट हम पर कोप कुपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एको क्षण अधर सुसीस डुलावति ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर के पदों मे अनुभूति की गहराई, चित्रांकनता, नव-निर्माण तथा अपूर्व हृदय-स्पर्शिता पर्याप्त मात्रा मे है। उनके काव्य का भाव पक्ष अत्यन्त उत्कृष्ट है ।

कलापक्ष

सूरदास जी श्रेष्ठ कलाकार हैं । उन्होंने 'सूरसागर' मे भाव धारायें तो बहाई ही हैं साथ ही उनमें माणिक्य और मुक्ताओं की प्रचुरता भी है । उनकी भाषा शुद्ध एवं साहित्यिक ब्रज भाषा है । उनकी शब्द-सम्पत्ति बड़ी ही गौरव-शालिनी है । लक्षणा और व्यंजना की भरमार ने भाषा को अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है । कोमलकान्त पदावली सूरदास की भाषा की सब से बड़ी विशेषता है । साथ ही साथ वह सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाह-मयी, सजीव एवं भावों के अनुरूप है। वह अत्यन्त आडम्बरविहीन, व्यावहारिक और अन्तस्थल का चित्रण करने वाली है। उनकी भाषा का प्रवाह तो देखते ही बनता है । कवि को भावों के लिए शब्द सोचने नहीं पड़ते । वे भावानुकूल स्वतः ही प्रवाहित हो जाते हैं। प्रमाण-स्वरूप कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

चलो किन मानिनि कुंज कुटीर ।
तुव बिन कुंवर कोटि वनिता तजि सहत मदन की पीर ।
गद्‌गद सुर पुलकित विरहानल नैन विलोचत नीर ।
क्वासि क्वासि वृषभानु कुमारी बिलपत विपिन अधीर ॥
मलयज गरल हुतासन मारुत शाखा मृग रिपु चीर ।
हिय में हरखि प्रेम अति आतुर-चतुर चलहु पिय तीर ॥"

× × × ×

ब्रज के लोग उठे अकुलाई ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि दसहू दिसा कहूं पार न पाई ।
झरहरात बनपात गिरत तरु धरणी तरकि तड़ाक सुनाई ।
जल बरसत गिरिवर तर बांचे अब कैसे गिरि होत सहाई ॥"

सजीवता भाषा का आवश्यक गुण है और भाषा में सजीवता लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग से आती है। लोकोक्तियों के प्रयोग के भी कु उदाहरण देखिये—

(क) कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात ।
(ख) बिना भीति तुम चित्र लिखत हो ।
(ग) उठि घाउँ मोहि कान्ह कुंवर सो ।
(घ) बाई आगे पेट दुरावति ।

उनकी भाषा की एक विशेषता और है जिसकी ओर ध्यान जाये बि नहीं रहता। वह विशेषता है उनकी संगीतात्मकता। उनके पद गेयात्मक हैं शब्दों की ध्वनि निम्न पंक्तियों में देखते ही बनती है—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ॥

इन पंक्तियों के शब्दों में गोपियों के प्रेम की 'विह्वलता' साकारता दृ

दैन्य की जो सुन्दर व्यंजना हुई है, उसकी तुलना मिलनी सहज नहीं है।

सूर की भाषा का गुण तो इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने एक ही लीला से सम्बन्धित अनेक पद गाये, किन्तु पाठकों को अरुचि नहीं होती, उन्हें सर्वत्र नवीनता दृष्टिगत होती रहती है।

महात्मा सूरदास के पद अलंकारों से भी अत्यन्त अलङ्कृत हैं। उनके साङ्ग-रूपकों की समता तो यदि कोई कर सकता है तो केवल गोस्वामी तुलसीदास ही। भगवान् श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन में उपमाओं की बहार सर्वत्र दर्शनीय है। मुक्तक पदों की रचना में आलंकारिक पदों की संख्या बढ़ाने में किसी प्रकार का नियंत्रण न होने के कारण वे लिखते ही चले गये। उनके पदों में एक से एक बढ़कर रूपक, उपमायें, उत्प्रेक्षायें दृष्टिगत होती हैं। किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है कि सूरदास जी अलंकारों की कोई प्रदर्शनी करना चाहते थे। रीतिकालीन कवियों की भाँति वे काव्य के कलापक्ष को ही सब कुछ नहीं समझते थे। फिर भी एक बात अवश्य है। कृष्ण के रूप पर मुग्ध सूरदास रूप-वर्णन करते हुए यदि अलंकारों की सरिता न बहाते तो और क्या करते। अंग-प्रत्यंग पर उन्होंने निरन्तर उपमायें बैठाई हैं। अनेक लोगों को 'सूरसागर' में पुनरुक्ति दिखाई देती हैं, किन्तु हमारा यह दावा है कि सूर-साहित्य में विषय की पुनरुक्ति चाहे मिल जाय, किन्तु अलंकारों की पुनरुक्ति नहीं मिल सकती, अलंकारों में तो सर्वत्र नवीनता ही दृष्टिगत होगी। कुछ उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होंगे। सर्वप्रथम साग रूपक का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

> "अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
> काम क्रोध को पहरि चोलना कंठ विषय की माल॥
> महामोह का नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
> भरम भरयो मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल।
> तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।

माया को कटि फेंटा बांध्यो लोभ तिलक दयो भाल ।।
कोटिक कला कांछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नन्द लाल ।।"

अब रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक का भी एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण देखिये—

"सखी इन नैनन ते घन हारे ।
बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ।
उरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
बदन-सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे ।
ढुरि-ढुरि बूंद परति कंचुकि पर, मिलि काजर सों कारे ।
मानों परन-कुटी सिव कीन्हों, बिन मूरत धरि न्यारे ।
सुमिरि-सुमिरि गरजत जल छांडत, अश्रु सलिल के धारे ।
बढ़त ब्रजहिं सूर को राखे, बिन गिरवर-धर प्यारे ।"

कविवर सूरदास जी के काव्य में प्रसाद और माधुर्य गुणों की ही प्रधानता है। 'सूरसागर' में शब्द-दोष, अर्थदोष तथा रस-दोष तो देखने को भी नहीं मिल सकते ।

उपर्युक्त समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि सूरदास जी के पदों में भाव पक्ष के बुद्धितत्व, कल्पनातत्व, रागात्मकतत्व तथा कलापक्ष के भाषा के साहित्यिक एवं शुद्ध रूप, काव्य-शास्त्रीय रस-निरूपण, ध्वनि, अलंकार, गुण तथा दोष हीनता आदि स्पष्टतः दृष्टिगत होते हैं। अतः निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि सूर के पदों में काव्य के अन्तरंग अर्थात भावपक्ष तथा बहिरंग अर्थात् कलापक्ष दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं ।

प्रश्न २४—'सूरसागर और रहस्यानुभूति' शीर्षक पर एक लेख लिखिये ।

मानव-मन की विविध वृत्तियों को पार्थिव धरातल से ऊंचा उठाकर

प्रारम्भिक कठिनाई को श्रद्धा और विश्वास की सहायता से दूर कर लेने के पश्चात् अपेक्षाकृत अधिक सरलता और सुगमता आ जाती है। इसके विपरीत निर्गुण रूप सदैव अनिर्वचनीय ही रहता है। उसके वर्णन के प्रयत्न इसी अनिर्वचनीयता की स्वीकृति में परिणत हो जाते हैं। निर्गुण रूप की इसी अनिर्वचनीयता को सूरदास जी ने भी इस पद में प्रकट किया है—

> "अविगत गति कछु कहत न आवै।
> ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
> परम स्वाद सब ही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
> मन-बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
> रूप, रेख, गुन, जाति, जुगति बिनु निरालंब मन चकित धावै।
> सब विधि अगम बिचारहि तातैं 'सूर' सगुन लीला-पद गावै॥"

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सगुण का वर्णन रहस्यव्यंजक नहीं है। सगुण का वर्णन भी चाहे कितना ही भी स्थूल क्यों न हो, मूलतः रहस्यव्यंजक ही है। उक्त प्रतिज्ञा में ही जिस प्रारम्भिक मान्यता को स्वीकार किया गया है उसकी अनुभूति कराने के लिए कवि को बार-बार जो प्रयत्न करने पड़े हैं वे विस्मय और रहस्य से रिक्त नहीं हैं। उन्होंने प्रारम्भ में अपनी रहस्यान्वित उदात्त जिज्ञासा को उस अवर्णनीय लोक की ओर उन्मुख किया, जहाँ अखंड सुख और आनन्द है—

> "चकई री चलि चरनि सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
> जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहुं सोई सायर सुख जोग॥"

इतना ही नहीं, वे तो रहस्य को अधिक इन्द्रियग्राह्य रूप में उपस्थित करने के इच्छुक थे। इसी कारण उन्होंने परम अपार्थिव, अलौकिक सौन्दर्य और सर्वोच्च रस एवं आनन्द को भगवान् श्रीकृष्ण के रूप और लीला में मूर्तिमान कर दिया। उन्हें भय है कि कहीं श्रीकृष्ण के इस रूप और चरित

"फन फन प्रति निरतत नंदनंदन।
जल भीतर जुग जाम रहे कहुँ, मिट्यो नहीं वन-चन्दन।
उहै काछनी कटि पीताम्बर, सीस मुकुट ग्रति सोहत।
मानो गिरि पर मोर ग्रानन्दित देखत ब्रज-जन मोहत।
ग्रम्बर थके ग्रमर ललना सग जै जै धुनि तिहुँ लोक।
'सूर' स्याम काली पर निरतत ग्रावत हैं ब्रज ग्रोक॥

दावानल प्रसग

'दावानल पान' के प्रसग का तो कहना ही क्या? पृथ्वी से ग्राकाश तक घोर लपटें उठ रही थी। न तो पानी ही बरसा ग्रौर न किसी ने ग्रग्नि को बुझाने का प्रयत्न किया। फिर भी ग्रग्नि की कराल ज्वाला एकदम लुप्त हो गई। वास्तव मे कृष्ण के ग्रसुरो के सहार ग्रथवा इन्द्रादि देवताग्रों के गर्वखंडन से सम्बन्ध रखने वाले सभी दृश्य ग्राश्चर्य-चकित करने वाले ही हैं। ऐसे प्रसगो मे विस्मय-व्यंजकता ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

ग्रानन्द क्रीड़ाएँ

सूरदास जी ने ग्रानन्द क्रीडाग्रो मे भी रहस्यपूर्ण सकेत प्रस्तुत किये हैं। दान-लीला के प्रसंग मे स्वय कृष्ण जी ग्रपनी काली कमरी का रहस्य बता रहे हैं—

"यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी ग्रनुमानति।
या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटम्बर।
सो कमरी तुम निदति गोपी जो तीन लोक ग्राडम्बर।
कमरी के बल ग्रसुर संहारे कमरिहि ते सब भोग।
जाति पांति कमरी सब मेरी 'सूर' सबहि यह योग॥"

कृष्ण की कमरी वास्तव में बडी रहस्यमयी है। तीनों लोक उस कमरी

से आच्छादित है। इसकी ही योग है, इसकी ही भोग है, इसकी ही शक्ति है और इसकी ही श्रीकृष्ण को समझने की कुंजी है। इसकी ही शक्ति असुर-संहार और रसानन्द लीलाओं में निहित है। यह कृष्ण की रहस्यमयी योगमाया है जिसे हम अपनी बुद्धि से भिन्न भिन्न रूप में समझते हैं।

दानलीला

इसी प्रसंग के अन्तर्गत कृष्ण दान माँगते-माँगते देखिये उस नृपति का परिचय दे रहे हैं जिसकी आज्ञा से वे दान माँगते हैं—

> "मोसों सुनहु नृपति को नाउँ।
> तिहूँ भुवन भरि गम्य है जाको नरनारी सब गाउँ।
> सुर गंधर्व बस्य याही के अवर नहीं सरि ताहि।
> उनकी अस्तुति करौं कहाँ लगि मैं सकुचत हौं आहि।
> तिनही को पठयो मैं आयो लियो दान को बीरा।
> 'सूर' रूप जोबन धन मुनि कै देखत भयौ अधीरा।।"

उक्त पद में कविने काम-भाव का मानवीकरण करके उसकी व्यापकता की व्यंजना की है। आगे कृष्ण इस बात को भी खोल देते हैं कि वे योगी को योगी और कामी को कामी रूप में प्राप्त होते हैं। कहने का मतलब यह कि संपूर्ण समर्पणयुक्त भाव से जिसमें सांसारिक स्वार्थ की तनिक सी मात्रा भी न हो, मानव को लोकातीत आनन्द प्राप्त होता है।

आत्म-समर्पण

दानलीला के अन्त मे गोपियों के जिस आत्म-समर्पण का कवि ने वर्णन किया है वह एक मात्र मानसिक ही है, उसमे शारीरिकता का तो संकेत भी नही है। मन ही मन में यह समर्पण इस पद में दर्शनीय है—

> "मन यह कहति देह बिसराए।
> यह धन तुमही को संचि राख्यो लेहि सौजं सबु आए।

जोबन रूप नाहीं तुम लायक तुमकौ देत लजाति ।
ज्यौं वारिधि आगे जल कनिका बिनय करति एहि भाँति ।
अमृत रस आगे मधु रंचक मनहिं करत अनुमान ।
'सूर' स्याम सोभा की सींवा को ध्यान ॥"

अन्तर्यामी श्रीकृष्ण का भी मन ही मन उनका आत्म-समर्पण स्वीकार करना भी दर्शनीय है—

"अन्तरयामी जानि लई ।
मन में मिले सबनि सुख दीन्हौं तब तनु की कुछ सुरति भई ।"
× × × ×
'सूरदास' प्रभु अंतरयामी गुप्तहि जोबन दान लई ।'

राधा और कृष्ण के प्रेम को तो बार बार सूरदास जी ने चिरन्तन और पुरातन प्रेम कहा है । उदाहरण दृष्टव्य है—

"···प्रकृति पुरुष नारी मैं वै पति काहे भूलि गई ।
को माता को पिता बंधु को यह तो भेंट भई ।
जन्म जन्म जुग जुग यह लीला प्यारी जानि लई ।
'सूरदास' प्रभु की यह महिमा याते बिबस भई ॥"

संयोग वर्णन

श्रीकृष्ण और राधा के मिलन-सुख और गोपियों के संयोग का वर्णन करने में सूरदास जी ने प्रायः ऐसे आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत किये हैं जिनसे उनकी पार्थिवता तथा ऐन्द्रियता अलौकिकता तथा अतीन्द्रियता में परिवर्तित हो जाती है । राधा के रूप-वर्णन में तो सूरदास जी ने कूट शैली प्रयोग करके उसकी असाधारणता तथा विलक्षणता का संकेत दे दिया है । कभी-कभी वे राधा के प्रेमानुभव को भी रहस्यात्मक ढंग से वर्णन कर देते हैं । उदाहरण देखिये—

"जब प्यारी मन ध्यान धरयो है।
पुलकित उर रोमांच प्रगट भये अंचर टरि मुख उघरि
जननी निरखि रही वा छवि को कहन चहै कछु कहि
चकित भई अग अंग विलोकति दुख सुख दोऊ मन उप
पुनि मन कहति सुता काहू की कीधों यह मेरी है जाई।
राधा हरि के रंगहि राची जननी रही जिये भरमाई॥"

कृष्ण के सौन्दर्य-दर्शन में राधा का अनुभव अत्यन्त रहस्यम
उसे न वह स्पष्ट समझ पाती है और न वर्णन ही कर पाती है।
है कि श्याम से मेरी पहिचान कैसी ? श्याम तो असीम है। उनका
क्षण परिवर्तित होता रहता है।

मुरली

'सूरसागर' मे सबसे अधिक रहस्यात्मक उक्तियाँ मुरली से सम्बन्धि
मुरली के मधुरनाद का न आदि है और न अन्त। वह तो लोक-सं
व्यापी है। वास्तव में वह शब्द ब्रह्म का ही एक रूप है जो अवर्णनी
माध्यम से लोकातीत रहस्य की अनुभूति का संकेत कराता है। श्रीकृष्ण
बंशी की ध्वनि जब चराचर लोक के कानो मे पड़ती है तो वह अ
सासारिक स्वभाव विस्मृत कर अनिर्वचनीय आनन्द स्थिति को प्राप्त हो ज
है। मुरली का इस प्रकार का प्रभाव इस पद में दर्शनीय है—

"बाँसुरी बजाय आछे रंग सौं मुरारी।
सुनि कै धुनि छूटि गई शंकर की तारी।
बेद पढ़न भूल गये ब्रह्मा ब्रह्मचारी।
रसना गुन कहि न सकै ऐसी सुधि बिसारी।
इन्द्र सभा थकित भई, लगी जब करारी।
रम्भा को मान मिटयो, भूलो नृतकारी।

जमुना जू चकित भई, नहीं सुधि सभारी।
'सूरदास' मुरली है तीन लोक प्यारी ॥"

मुरली की भनक कान में पड़ी नहीं कि गोपियाँ तन की सुधि भूल गई। उनका रूप-यौवन का सारा गर्व भाग गया और वे लोक-कुल की मर्यादा को त्याग कर कृष्ण की ओर दौड़ पड़ी। मुरली की ध्वनि जब उनके कान में पड़ती है तो उनके लिए घर में ठहरना असम्भव हो जाता है। गोपियों की इस प्रकार की अधीरता का चित्रण इन पंक्तियों में दृष्टव्य है—

"जबहिं बन मुरली स्रवन परी।
चकृत भई गोप-कन्या सब काम धाम बिसरी।
कुल मर्यादा वेद की आज्ञा नेकहु नहीं डरीं।
स्याम सिंधु सरिता ललनागन जल की ढरनि ढरीं।"

× × ×

"सुत पति नेह भवन जन संका लज्जा नहीं करी।
'सूरदास' प्रभु मन हरि लीन्हों नागर नवलहरी ॥

गोपियां बेचारी क्या स्वयं नारायण भी मुरली की ध्वनि सुनकर आनन्द में फँस जाते हैं। रास का सर्वोत्तम आनन्द मुरली-वादन में ही केन्द्रीभूत है। उसमें तो कण-कण को स्पंदित करने की क्षमता है। यथा—

"रास रस मुरली ही तें जान्यौ।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियो मारग चन्द्र हिरान्यौ।
धरनि जीव जल थल के मोहे नभ मंडल सुर थाके।
तृण द्रुम सलिल पवन गति भूले स्रवन सब्द पर्यो जाके।
बच्यो नहीं पाताल रसातल कितिक उदै लौं भान।
नारद सारद सिव यह भाषत कछु तनु रह्यो न सयान।
यह अपार रास उपायौ सुन्यौ न देख्यौ अंत।

नारायण ध्वनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैन ।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी विहरत हैं बन स्याम ।
'सूर' कहाँ हमको वैसो सुख जो विलसति ब्रजबाम ॥"

नित्य वृन्दावन

'सूरसागर' में जो नित्य वृन्दावन की कल्पना सूर ने की है वह भी कम अद्भुत और विस्मयजनक नहीं है। वह श्रीकृष्ण के परमानन्द रूप का रूपकमय वर्णन है। वृन्दावन श्रीकृष्ण नित्य रास-क्रीडा, जल-विहार, प्रेम-केलि में मग्न रहते हैं। वहाँ त्रिविध समीर बहती है, ऋतुराज निवास करता है, तथा सदा विविध प्रकार के सुमन फूले रहते हैं जिन पर उन्मत्त भ्रमर गुंजार करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सूरसागर' में इस प्रकार के रहस्यात्मक संकेत हैं जिन से लोकातीत रूप की सूचना प्राप्त होती है और सांसारिकता का भ्रम दूर हो जाता है। सूर के काव्य का समुचित मूल्यांकन करने के लिए उनकी इस रहस्यानुभूति को समझना नितान्त अनिवार्य है क्योंकि बिना इसके समझे उनके वास्तविक आनन्द को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

प्रश्न २५—'सूर के कृष्ण' शीर्षक पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिये।

महात्मा सूरदास पुष्टि सम्प्रदायी श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य थे। अतः उनके कृष्ण की विशेषताओं पर दृष्टिपात करने के लिए यह जानना उपयोगी होगा कि पुष्टिमार्ग के अनुसार श्रीकृष्ण का क्या रूप है। साथ ही यह भी प्रायः निश्चित है कि सूरदास जी ने 'सूरसागर' की रचना में श्रीमद्भागवत का आधार रखा है। भागवत में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण है। सूरदास जी ने भी श्रीकृष्ण को लीला-विहारी के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने अनेक स्थलों पर मौलिकता का प्रदर्शन किया है। उन्होंने कृष्ण जी से सम्बन्धित अनेक कथाओं का सम्बन्ध उनकी विविध लीलाओं से जोड़

दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भागवत का आधार लेते हुए भी सूरदास जी ने कृष्ण के चित्रण में कुछ नवीन उद्भावनायें की हैं।

पुष्टि-मार्ग में कृष्ण

अब तनिक पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण का स्वरूप देखिये। श्री आचार्य जी के मतानुसार श्रीकृष्ण जी इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले परब्रह्म परमेश्वर हैं। वे सच्चिदानन्द हैं, अर्थात् उनमें सत, चित और आनन्द तीनों गुण वर्तमान है। इन्हीं से जीव और प्रकृति उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने भक्तों की प्रसन्नता के तथा आनन्दप्राप्ति के हेतु इस भूमि पर अवतार लिया है। नन्द, यशोदा, गोपी आदि भक्त जन हैं जो उनकी विविध लीलाओं को देखकर आनन्द-विभोर होते हैं।

सूर के कृष्ण

सूरदास जी भी श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म मानते हैं। श्री वल्लभाचार्य जी से दीक्षा पाने के पूर्व महात्मा सूरदास ने ऐसे पदों की रचना की थी जिनमें उन्होंने अपने हृदय का दैन्य ही प्रगट किया था, किन्तु जब से उन्होंने आचार्य जी का यह आदेश प्राप्त किया--

'सूर ह्वै कैं ऐसो घिघियात काहे को है, कछु भगवत-लीला वर्णन कर।

तब से वे श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन करने लगे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे भगवान् के सगुण रूप का वर्णन करने लगे। मुख्यरूप से सगुण रूप का वर्णन करते हुए भी अनेक स्थलों पर सूरदास जी ने श्रीकृष्ण को सर्वज्ञ, सर्वात्मन्, अन्तर्यामी और अविनाशी के रूप में चित्रित किया है। उदाहरण के लिए कालीनाग प्रसंग तथा गोवर्धन-धारण-लीला प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कभी तो नारदादि निराकार रूप में उनकी स्तुति करते हैं और कभी गन्धर्वगण उन्हें निर्गुण रूप में भजते दिखाई देते हैं। इस प्रकार एक ओर तो सूर के कृष्ण सगुण रूप में चित्रित

है और दूसरी ओर निराकार रूप में। यह बात इस प्रका
सकती है कि कृष्ण जी मूल रूप में तो वे ही परब्रह्म परमेश्वर
रूप में उन्होंने अवतार ले लिया है। सूर की आस्था भी कृ
रूप की ओर दिखाई देती है, लेकिन विष्णु के सगुण, साका
विहारी का ही करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं, इसका उत्तर उ
में स्वयं दिया है—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै
सब विधि अगम बिचारिहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै

सूरदास जी ने कृष्ण को जिस रूप में 'सूरसागर' में चित्रित किया
महाभारत अथवा भागवत में वर्णित कृष्ण के रूप से भिन्न है। दोन
अवतार लेने के उद्देश्यों में भी अन्तर है। महाभारत के कृष्ण जी ने
साधुओं के परित्राण तथा दुष्टों के दलन के हेतु अवतार लिया था
सूरदास के कृष्ण जी भक्तों को आनन्द देने के लिए अवतरित होते हैं अ
के हेतु अनेक प्रकार की लीलायें करके दिखाते हैं। उन लीलाओं
अन्तर्गत अधिकांश में माधुर्य भाव की ही व्यंजना होती है, किन्तु कहीं-कहीं
उनकी ऐसी लीलाओं का भी वर्णन है जिससे उनके प्रति माधुर्य-भाव के
स्थान पर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। ऐसा लगता है कि भूभार-उद्धार
के लिए आए हुए हैं और वे महाभारत के से कृष्ण ही प्रतीत होने लगते हैं,
परन्तु तनिक ध्यान से देखने पर यह हमारा भ्रम सिद्ध होता है। सूर ने कृष्ण
को माधुर्य भाव से ही अधिकांश रूप में चित्रित किया है।

वास्तविक बात यह है कि सूर ने कृष्ण को समाज के साथ इस रूप में

सम्बन्धित किया है कि वे समाज मे बिल्कुल घुल-मिल गये है। वे समाज के और समाज उनका हो गया है। उदाहरण के लिए कालीय-दमन तथा गोवर्धन-धारण प्रसंग को ही लीजिये। इन प्रसगो को पढ़कर लोग उन्हें साक्षात् परमेश्वर मान सकते हैं; किन्तु सूर ने इस भावना को आने से रोका है। जब वे जमुना में कूद पड़ते हैं तो सारा समाज उनके लिए चिंतित हो उठता है। गोवर्धन धारण के समय तो स्वयं कृष्ण जी लोगो से सहारा लगाने को कहते हैं। सभी उनकी नाना प्रकार से सहायता करते हैं। वे सभी के स्नेह-पात्र बने हुए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सबको आनन्द प्रदान करते हुए सूर के श्रीकृष्ण अपनी विविध लीलायें प्रदर्शित करते हैं।

भक्तराज सूरदास भगवान् श्रीकृष्ण के परम भक्त हैं। उन्होने दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति की है। प्रारम्भ मे वे दास्य भाव से ही भक्ति करते थे। इस पद, जो उनकी प्रारम्भिक रचना मानी जाती है, इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है—

> 'चरन कमल बन्दौं हरिराई।
> जाकी कृपा पंगु गिरि लघं अन्धे को सब कुछ दरसाई।
> बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
> सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौं तिहि पाई।"

इसके बाद की रचनाओं में उनकी वात्सल्य भक्ति दर्शनीय है—

> 'यशोदा हरि पालने झुलावै।
> हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै॥
> मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै।
> तू काहे नहि वेगहि आवै तो को कान्ह बुलावै॥
> कबहुँ पलक हरि मूंद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
> सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै॥

इहि अन्तर अकुलाई उठे हरि यशुमति मधुरं गावं।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनी पावं।।"

इसके पश्चात् जब वे और अधिक निकटता चाहने लगे तो उनकी भक्ति में सख्य-भाव की प्रधानता आ गई। उनका सामीप्य-लाभ भला उनके सखा बने बिना सूरदास जी कैसे प्राप्त कर सकते थे? सखा-रूप में सूरदास जी उनकी अनेक लीलाओं का चित्रण करते हैं। कृष्ण जी अपने सखाओं के साथ गौएँ चराने जाते हैं, खेलते हैं तथा अनेक प्रकार की लीलायें करते हैं। उनके सखा खेल में उनकी महानता को नहीं मानते। जब कृष्ण जी पराजित होकर भी अपनी पराजय मानना नहीं चाहते तो उनके सखा स्पष्ट रूप में कहते हैं कि खेलने में कोई किसी का स्वामी नहीं है, सब बराबर हैं, चाहे कोई राजा का पुत्र हो और चाहे रंक का। कृष्ण से वे स्पष्ट कह देते हैं कि यदि उनके पास कुछ अधिक गौएँ हैं तो वे उनका इसी आधार पर कोई विशेषाधिकार नहीं मान सकते—

"खेलन में को काको गुसैंया?
× × ×
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैया।"

इससे भी अधिक सामीप्य-लाभ तो सूरदास जी वहाँ दिखाते हैं जहाँ वे उनकी विविध शृंगारमयी क्रीड़ाओं का वर्णन करते हैं। वे सखा-रूप में उनकी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष और गोपनीय तथा अगोपनीय सभी बातों को देख लेते हैं। सुरति तक का वर्णन कर बैठते हैं, किन्तु इस आधार पर उन पर दोषारोपण करना उचित नहीं है क्योंकि भक्ति के आवेग में तथा सख्य-भाव की भक्ति के नाते अपना अधिकार समझ कर उन्होंने ऐसा कर दिया।

सख्य-भाव की भक्ति से सम्बन्धित सूर का एक पद बहुत सुन्दर है जिसमें

वे गाय चराते समय अपने सखाओं के साथ बैठ कर छाक खाते हैं। वह प
यहाँ उद्धृत किया जाता है—

> "ग्वालन कर तें कौर छुड़ावत।
> जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत॥
> षटरस के पकवान धरे सब तामें नहिं रुचि पावत।
> हा-हा करि-करि माँग लेत है कहत मोहिं अति भावत।
> यह महिमा एई पै जानत जाते आप बंधावत।
> 'सूर' स्याम सपने नहिं दरसत मुनिजन ध्यान लगावत॥"

माधुर्य-भाव

इन सब रूपों के अतिरिक्त सूरदास जी ने कृष्ण का चित्रण माधुर्य-भा
से भी किया है। गोपियों और कृष्ण के पारस्परिक स्नेह के वर्णन में माधु
भाव की अभिव्यक्ति ही हुई है। राधा कृष्ण की पत्नी हैं। वे अन्य गोपि
से कृष्ण के लिए कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी
की यह माधुर्य-भाव की उपासना-पद्धति अत्यन्त उपयुक्त है। प्रेम ए
भाव है जो न्यून अथवा अधिक मात्रा में सभी में पाया जाता है। इसी लौकि
प्रेम का स्थानान्तरण यदि अलौकिक के लिए हो जाय तो भक्त को भ
भक्ति में कुछ अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार हमने देखा कि सूर ने कृष्ण की दास्य, वात्सल्य, सख्य म
माधुर्य इन सभी भावों से भक्ति की है। वे सूरदास के स्वामी भी थे तथा स
भी रहे। उन्होंने मुख्य रूप से श्रीकृष्ण के जीवन के बाल्य और युवा दो का
को ही चित्रित किया है। दोनों ही रूपों में वे अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनो
रूप में चित्रित हैं। उनकी विविध लीलाएँ कवि ने इतने सरस एवं स्वाभावि
रूप में चित्रित की हैं कि पाठक उन्हें पढ़ कर रस विभोर हो उठता है।
प्रकार सूरदास जी ने कृष्ण जी को सगुण रूप में

एक बार सर्वत्र स्मरणीय है कि वे परमब्रह्म भी हैं। भक्तों को आनन्दित करने के लिए वे इस भूमि पर अवतरित हुए हैं।

प्रश्न २६—भारतीय साहित्य में राधा के व्यक्तित्व के विकास पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिये तथा सूर की राधा का चरित्र-चित्रण कीजिये।

आज जो 'राधा' का नाम हमें चिर-परिचित प्रतीत होता है, उसकी उत्पत्ति के सम्बंध में विचार करना आवश्यक है। श्रीमद्भागवत में जो सूर के 'सूरसागर' का मुख्य आधार है, राधा के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। सूरसागर' की राधा प्रधान नायिका बनी हुई है अतः सूरदास की भागवत से पृथक् यह एक मौलिक उद्भावना हुई। किन्तु प्रश्न यह है कि मूलतः राधा शब्द आया कहाँ से ? भागवत के दशम स्कन्ध में एक ऐसी गोपी का उल्लेख अवश्य है जो श्रीकृष्ण को सर्वाधिक प्रिय थी। राम-लीला के अन्तर्गत ऐसा प्रसंग आता है जिसमें श्रीकृष्ण गोपियों का गर्व दूर करने के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं और गोपियाँ उन्हें खोजती फिरती हैं। खोजते खोजते उन्हें एक स्थान पर श्रीकृष्ण के चरण दृष्टिगत हुए। निकट जाकर देखने पर विदित हुआ कि श्रीकृष्ण के उन चरण-चिन्हों के साथ किसी व्रज-युवती के चरण चिन्ह भी हैं। गोपियाँ यह देखकर अत्यन्त व्याकुल हो गईं और कहने लगीं—

"अनयाऽराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥"

इसका भावार्थ तो यह हुआ कि गोपियाँ यह सोचती हैं कि अवश्य ही इस गोपी ने भगवान् की आराधना की है। इसीलिए कृष्ण हमें छोड़कर उसे अपने साथ ले गये।

स्पष्ट है कि यह गोपी श्रीकृष्ण को सर्वाधिक प्रिय थी, किन्तु यह भी साथ ही स्पष्ट है कि भागवत में उसका कोई स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। य सम्भव हो सकता है कि इसके अनन्तर किसी कवि ने 'आराधित' शब्द से राध

की कल्पना करती हो, क्योंकि 'आराधित' शब्द से राधा समझ लेना कुछ अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

इस विषय में एक विचार और भी है जिसे हम यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक समझ रहे हैं। भारत में शिव-पार्वती पूजा बहुत दिनों से प्रचलित थी और इसी के आधार पर विष्णु व लक्ष्मी की पूजा भी प्रचलित हो गई थी। कृष्ण जी विष्णु के अवतार माने जाते हैं अतः बाद में कृष्ण के साथ लक्ष्मी का सम्बन्ध स्थापित होना स्वाभाविक था। इसी आधार पर लक्ष्मी को निम्बार्क स्वामी ने वृषभानुजा अर्थात् राधा कहकर कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित किया।

राधा का विकास

राधा शब्द की उत्पत्ति के विषय में डा० भण्डारकर के विचार भी महत्व-पूर्ण हैं। उनका कथन है—

"राधा सीरिया से आये हुए अभीरों की इष्टदेवी है। जब अभीर यहाँ बस गये तो उनके बाल—गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियों के पश्चात् अभीरों की इष्टदेवी राधा आर्य जाति में भी स्वीकृति हो गई। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में बाल-गोपालों की लीलाओं का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु कहीं भी राधा का नामोल्लेख नहीं मिलता।"

इस मत को मान्यता देना हमारे वश के बाहर है। इतिहास तथा इस देश के अन्य सभी ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं कि अहीर बाहर से आई हुई जाति नहीं है। कोई बहुत प्रयास करे तो उन्हें द्रविड़ वंश से संबन्धित क्षत्रिय मान सकता है। यदुवंशी क्षत्रियों से इनका बहुत सम्बन्ध है। अतः यह बात कुछ अधिक जँचती है कि दक्षिण के अहीरों में पहले राधा का प्रचार हुआ होगा और बाद में कृष्ण भक्ति के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ गया होगा।

सर्वप्रथम राधा का नाम ब्रह्मवैवर्त पुराण में आता है। कुछ विद्वानों क विचार है कि यह पुराण वर्तमान रूप में बहुत बाद का लिखा हुआ है। इसं आये हुए कुछ शब्द जैसे मोदक, जोला आदि बंगाल में प्रचलित जातियों के नाम हैं। बंगदेश के वैष्णव भक्त ही इस पुराण की राधाकृष्ण सम्बन्धी पूजा से सर्वप्रथम सर्वाधिक प्रभावित हुए। इस पुराण द्वारा भक्ति का रूप ही बदल दिया गया। राधा के चरित्र की पूर्ण प्रतिष्ठा करने का श्रेय भी इसी पुराण को दिया जायगा। भक्ति के इसी परिवर्तित रूप ने बंगाल के वैष्णव धर्म को माधुर्य प्रधान बना दिया। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर अपने प्रसिद्ध काव्य 'गीत-गोविन्द' की रचना की थी। महाप्रभु चैतन्य न इसी नूतन धर्म से प्रभावित होकर माधुर्य-प्रधान रामानुजा भक्ति का प्रचार किया था।

इस नूतन धर्म का बीज सांख्य-शास्त्र के पुरुष-प्रकृतिवाद में था जो शिव तथा शक्ति के रूप में तन्त्रमत मे स्वीकार हुआ था। शक्तिवाद ने विद्वानों तथा जनसाधारण दोनो को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वैष्णवों का विशिष्टाद्वैतवाद बंग-भक्तो को नष्ट करने मे असमर्थ रहा और संभवतः इसी कारण यह मत ब्रह्मवैवर्त पुराण मे स्वीकृत हो गया। इस पुराण में श्रीकृष्ण भगवान ने राधा को अपना अर्द्धांग और मूल-प्रकृति बनाया है। आगे चलकर तो कृष्ण और राधा मे पूर्ण रूप से अभेद स्थापित हो गया—

"ममार्द्धां त्वं स्वरूपात्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी ॥"

× × × ×

"यथा त्वया बिना सृष्टि न च कर्तुं महं क्षमः
सृष्टोराधार भूता त्वं बीज रूपोऽहम च्युत ॥"

अर्थात् राधा इस सृष्टि का आधार है और कृष्ण अविनश्वर बीज रूप। ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा शब्द की व्युत्पत्ति दो रूपों में दी है।

१. "रासे संभूय गोलोके रधाव: हरे: पुर: ।
तेन राधासमा ख्याता पुराविद्भि: द्विजोत्तम: ।।"

अर्थात् वह गोलोक में रास में प्रकट हुई और हरि के आगे आगे गई, अतः 'रा' और 'धा' से राधा शब्द बना ।

२. राकारो दान वाचक.
धा निर्वाणंचतद्दात्री च तेन राधा प्रकीर्तिता ।।"

अर्थात् वह निर्वाण देने वाली हैं, अत: राधा कहलाई ।

इस पुराण मे राधा का विवाह भी वर्णित है। इसमे ब्रह्मवैवर्तकार ने जहाँ एक ओर राधा और कृष्ण मे अभेद स्थापित किया है, वहाँ दूसरी ओर राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति भी बताया है। जैसे कुम्भकार मिट्टी के बिना अपना कार्य नहीं कर सकता, उसी प्रकार कृष्ण भी राधा के बिना कार्य नहीं कर सकते। कृष्ण का अस्तित्व भी राधा के आश्रय से ही है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि राधा ही सब कुछ है। इसीलिए मध्वाचार्य के शिष्य हितहरिवंश जी ने राधा-स्वामी सम्प्रदाय की स्थापना की और राधा के महत्व को स्वीकार किया। कहने का तात्पर्य यह कि धीरे धीरे राधा का चरित्र कृष्ण से भी प्रधान बन गया। महाकवि बिहारी ने भी अपने 'सतसई' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में राधा की ही आराधना की है—

"मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परं, स्याम हरित दुति होय ।।"

सूर की राधा

राधा 'सूरसागर' काव्य की प्रधान नायिका है। वह गौरवर्ण वाली परम सुन्दरी गोप-बालिका है। उसके प्रत्येक अग की शोभा अनुपम है। महाकवि सूर ने उसके अनुपम सौन्दर्य-का अनेक पदों में वर्णन किया है। उसके अंग-प्रत्यंग की छवि का अत्यन्त सुन्दर चित्रण 'सूरसागर' मे प्राप्त होता है।

अतएव सूरदास की राधा न तो विद्यापति की राधा की तरह प्रेयसी है न
न चण्डीदास की राधा की भाँति परकीया है। न वह कोई साधारण ग्वा
साधारण गोपी ही है। वह तो कृष्ण की पत्नी के रूप में चित्रित है अ
तात्त्विक भेद की परिभाषा के आधार पर उसे स्वकीया ही माना जायगा।

मूल रूप से तो सूरदास जी ने राधा तथा कृष्ण के आध्यात्मिक तत्व की
की व्यंजना की है, किन्तु यहाँ उसे लौकिक पक्ष में ही लेकर विवरण करना अधिक
उपयोगी होगा। एक दिन कृष्ण खेलने पर से बाहर निकले तो अचानक ही
राधा को देखते हैं। वह भी उन्हीं के समान अपनी सखियों के साथ है।
उसकी आयु भी लगभग कृष्ण के समान ही है। राधा को देखते ही वे उस पर
मोहित हो जाते हैं। कृष्ण पूछते हैं—तू कौन है? किसकी बेटी है? ब्रज में
तू कभी दिखाई दी नहीं? राधा ने उत्तर दिया—मैं ब्रज की ओर क्यों
आती? मैं तो अपने आँगन में ही खेलती रहती हूँ। हाँ, यह अवश्य सुनती
रहती हूँ कि नन्द का लड़का माखन-चोर है। कृष्ण कहते हैं—तुम्हारा हम
क्या चुरा लेंगे? आओ चलो, साथ खेलने चलें। हमारी तुम्हारी जोड़ी खूब
रहेगी। यहीं से दोनों के हृदय में प्रेम का उदय हो जाता है। इस समय का
सूर का यह कथन दर्शनीय है—

> "खेलन कबहुँ हमारे आवहु नन्द सदन ब्रज गाँव।
> द्वारे आइ टेर मोहि लीजो कान्ह है मेरो नाऊँ॥
> जो कहियो घर दूर तुम्हारो बोलत सुनिये टेर।
> तुमहि सौंह वृषभानु बाबा की प्रात साँझ एक फेर॥
> सूधी निपट देखियत तुमकों ताते करियत साथ।
> सूरस्याम नागर उत नागरि राधा दोउ मिलि गाथ॥"

धीरे-धीरे राधा और कृष्ण बड़े होते हैं। वे संकेत से ही राधा से कहते

"खरिक ग्रावहु दोहनी लै यहै मिस छल पाइ ।
गाइ गिनती करन जैहैं मोहि लै नन्दराइ ।"

राधा भी कृष्ण के प्रेम मे डूब जाती है। कृष्ण के बिना उसे कुछ भी नही सुहाता। कभी-कभी घर भी बहुत देर से पहुँचती है। माँ देर से आने का कारण पूछती है तो कह देती है कि खरिक देखने चली गई थी। वे कृष्ण के सकेत के अनुसार माता से अनेक बहाने करती है माँ से दोहनी माँगती है और साथ ही कहती है—

"खरिक मांहि ग्रब ही ह्वं ग्राई ग्रहिर दुहत ग्रपनी सब गैया ।
ग्वाल दुहत तब गाय हमारी जब ग्रपनी दुहि लेत ।
घरिक मोहि लगिहै खरिका मे तू ग्रावै जनि हेत ।"

राधा ही नही, कृष्ण को लिए नन्द भी खरिका में आ जाते हैं। कृष्ण राधा को देखकर अपने पास बुला लेते हैं। नन्द दोनों बालकों से कहते हैं कि जाओ खेलो, किन्तु साथ ही यह भी कह देते हैं कि देखो कही दूर मत जाना मैं गिनती करता हूँ, पास ही रहना। वृषभानु की बेटी ! देखो ध्यान रखना, कान्ह को कोई गाय न मार दे। इस प्रकार राधा और कृष्ण को एकान्त मिल जाता है। राधा कहती है कि सुना नन्द बाबा ने क्या कहा ? अब मुझे छोड़ कर यदि किधर को भी गये तो मैं पकड़ लूंगी अर्थात् जाने नहीं दूंगी। कहीं कोई गाय मार गई तो !

इसके पश्चात् एक दिन आकाश मे काली काली घनघोर घटायें छा जाती हैं और नन्द इस आँधी-पानी को देखकर भयभीत हो जाते हैं। वे राधा को अपने पास बुलाते हैं और कहते है कि जा कान्ह को घर ले जा। राधा और कृष्ण दोनो वर्षा मे भीगते-भीगते बन से लौटते हैं। परस्पर सटे-सटे मार्ग मे दोनो रति-क्रीड़ा भी करते चलते है। उदाहरण दृष्टव्य है—

"चूमत ग्रंग परस्पर जनु जुग चव करत हित चार ।
रसन हसन भरि छावि चतुर ग्रति रंग विस्तार ।"

इसके पश्चात् फिर एक दिन राधा कृष्ण के घर आती है और कृष्ण को आवाज देती है। राधा की कोयल के समान मीठी वाणी को सुन कर भला कृष्ण को चैन कहाँ ? वे आतुर होकर दौड़े आते हैं और राधा को घर में ले जाते हैं। अपनी माँ से राधा की अत्यन्त प्रशंसा करते हैं—

> "खेलन के मिस कुंवरि राधिका नन्द महर के आई हो।
> सकुच सहित मधुरे करि बोली घर हो कुंवर कन्हाई हो ॥
> सुनत स्याम कोकिल-सम वाणी निकसे अति अतुराई हो।
> माता सों करत कलह हरि सो डारियो बिसराई हो।
> मैया री तू इनको चीन्हति बारम्बार बताई हो।
> यमुना-तीर कालिह मैं भूल्यौ बांह पकरि लै आई हो ॥
> आवति यहां तोहि सकुची है मैं दै सौंह बुलाई हो।"

यशोदा के पास राधा को बिठा देते हैं। यशोदा और राधा में वार्तालाप आरम्भ होता है। यशोदा राधा से उसके माता-पिता का परिचय पूछती है। राधा बताती है कि वह वृषभानु की बेटी है। यशोदा कहती है कि हाँ मैं जानती हूँ वे तो बड़े 'लंगूर' हैं। राधा पूछती है कि उन्होंने तुम्हें कब छेड़ा था ? यशोदा हंस कर राधा को अपने गले से लगा लेती है।

राधा को उसकी माता भी डाँटती है—

> "काहे को तुम जहँ तहँ डोलति हमको अतिहि लजावति।
> अपने कुल की खबर करो धौं सकुच नहीं जिय आवति ॥"

एक दिन कृष्ण जी ने राधा की गोयें दुह दीं। वह लौटती है, किन्तु लौटा नहीं जाता और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। सखियाँ उसे समाप कर घर लाती हैं। घर जाकर बताती हैं कि राधा को कृष्ण भुजंग ने डस लिया है। कोई गारुडी बुलाया जाय। गारुडी महाशय आते हैं, किन्तु कुछ प्रभाव नहीं होता और वे पछताकर लौट जाते हैं। सखियों के कहने पर स्वयं वृषभानु की पत्नी कृष्ण जी को बुलाने जाती हैं। यशोदा के घर पहुँच कर

पहले यशोदा के पाँव पड़ती हैं और तब कृष्ण को बुलाकर लाती है। कृष्ण के पहुँचने पर राधा की मूर्च्छा उतर जाती है।

पनघट-लीला

अब तनिक राधा को पनघट-लीला में अन्य सखियों के साथ देखिये—

"राधा सखियन लई बोलाइ।
चलहु यमुना जलहिं संगै चलौं सब सुख पाइ।
सबनि एक एक कलश लीन्हों तुरत पहुँची जाइ।
तहाँ देख्यो श्याम सुन्दर कुँवरि मन हरषाइ।
नन्द-नन्दन देखि रीझे चितै रहे चितलाइ।
सूर प्रभु की प्रिया राधा भरत जल मुसुकाइ॥"

दान-लीला प्रसंग में राधा का चित्रण दर्शनीय है—

"ब्रजयुवती नितप्रति दधि बेचन बनि बनि मथुरा जाति।
राधा चन्द्रावलि ललितादिक बहु तरुणी इक भाँति॥"

रास में भी राधा का चित्रण दृष्टव्य है—

'रास मण्डल मध्य श्याम राधा।
मनो घन बीच दामिनी कौंधति, सुभग एक है रूप हैं नाहिं बाधा
नायिका अष्ट अष्टहु दिशा सोहहीं बनी चहुँ पास गोप-कन्या।
मिले सब संग नहिं लखति कोउ परस्पर, बने चष्टदश सहस कृष्ण संख्या।
रचे शृंगार नवसात जगमग रह्यो, अंग भूषण रँनि बनी तैसो।
सूर प्रभु नवल गिरधर नवल राधिका, नवल ब्रज सुता मंडली जैसो॥"

सम्भोग शृंगार के चित्रण में एक चित्र और भी प्रस्तुत करने योग्य है। एक बार राधा रूठ जाती है, कृष्ण अनेक प्रकार से राधा को मनाना चाहते हैं, किन्तु राधा नहीं मानती—

'भरि-भरि अँखियन नीर सैनि पै ढारति नहिं अनिरित,
कोरति अधर करकि करि भृकुटि तानति।

कृष्ण मूर्छित भी हो गये, किन्तु राधा तब भी विचलित नहीं होतीं इसका भी एक कारण है। उसे पूरा विश्वास है कि कृष्ण उसके ही हैं—

"माँहि हठि परयौ प्राण बल्लभ सो छूटत नहिं छुड़ाये।
देखि मूरछि परयौ मनमोहन मनहुँ भुअंगिनी खाये॥"

विप्रलम्भ शृंगार

अब विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत राधा का चित्रण देखना चाहिये। जिस दिन अक्रूर कृष्ण को मथुरा ले जाते हैं, उस दिन राधा को रात-भर नींद ही नहीं आती—

"आज रैन नहिं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी॥"

वियोग में राधा की दशा का सूर ने जो चित्रण किया है वह अत्यन्त मार्मिक है। एक पथिक को मार्ग में देखकर राधा उसे बुला कर कहती है—

"कहियो पथिक जाइ हरि सों मेरो मन अटको नैन के लेखे।
इहै दोष दै दै झगरत हैं तब निरखत मुख लगो क्यों निमेषे॥
कै तो मोहि बताय दबकियो लगी पलक जड़ जाके देखे।
ते अब सब इनपै भरि चाहत विधि जो लिखे दरशन सुख रेखे॥"

एक बार जब गोपियाँ पंथी के सामने कृष्ण को दोष देती हैं तो उस समय राधा जो कुछ कहती हैं, वह सुनते ही बनता है—

"सखि री हरि को दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत मेरोई कपट सनेहु॥"

यद्यपि भ्रमर-गीत-प्रसंग में राधा का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ब्रज में

लौटने पर उद्धव जी कृष्ण से जो कुछ कहते हैं उससे यह अवश्य स्पष्ट होता है कि उनके आगमन की बात सुनकर राधा अपने घर के द्वार तक अवश्य आ गई थी। उद्धव जी का कथन दृष्टव्य है—

"देली में लोचन चुवत अचेत।
मनहुँ कमल शशि भास ईश को मुक्ता-गनि गनि देत ॥
द्वार खड़ी इकटक मग जोवत अरध इवास न लेत।
मानहुँ मदन मिले चाहति है मुचंत मरुत समेत ॥
श्रवण न सुनत चित्र पुतरी लौं समुझावत जितनेत।
कहुँ कंकन कहुँ गिरि मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत ॥
मानहुँ विरह दव जरत विश्व सम राधा रुचिर निकेत।
घुन होई सूखि रहि सूरज प्रभु बंधी तुम्हारे हेत ॥"

वह तो अन्य गोपियों के समान अपना सन्देश भी न दे सकी। उसका गला भर आया। यदि कुछ कहा तो बस इतना ही कहा—

"इतनी बिनती सुनो हमारी।
बारक हूँ पतिया लिख दीजे।
चरण कमल दरसन नव नौका करुणासिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै ॥"

इसके पश्चात् राधा के दर्शन हमें उस समय होते हैं जब श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र से लौट रहे हैं। उनके साथ इस समय रुक्मणि भी है। राधा को विश्वास ही नहीं होता। वास्तव में उसका विरह उनके लिए इतना स्वाभाविक हो गया है कि वह कृष्ण के निकट आने पर भी मिलन का विश्वास नहीं करती। हाँ, जब रुक्मणि पूछती है तो कृष्ण राधा को उन्हें दिखाते हैं। राधा का कथन यहाँ भी दर्शनीय है—

"हरि जी इते दिन कहाँ लगाये ?
तबहि अवधि में कहत न समुझी गनत अचानक आये ॥

भली करि जु अबहिं इन नैनन सुन्दर चरण दिखाये।
'जानि कृपा' राज काजहुँ हम निमिष नहीं बिसराये ॥
विरहिन विकल विलोकि सूर प्रभु धाइ हृदय कर लाये।
कछु मुस्काय कह्यो सारथि सुन रथ के तुरंग छुराये ॥"

इसी बीच रुक्मिणी राधा को अपना लेती हैं, कृष्ण भी आ जाते हैं। और राधा और माधव की भेंट हो जाती है। कृष्ण राधा को बताते हैं कि हम में और तुम में तो कोई अन्तर ही नहीं है और उसे व्रज भेज देते हैं। इस मिलन के विषय में राधा अपनी एक सखी से कह रही हैं—

"करत कछु नाहीं आज बनि।
हरि आए हौं रही ठगी-सी जैसे चित्र-धनी ॥"

इस प्रकार हमने देखा कि राधा 'सूरसागर' में एक आदर्श आर्य महिला के रूप में चित्रित है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसका सर्वस्व-समर्पण। वह अपने प्रेमी पर पूर्ण विश्वास करती है तथा उनके दोषों को अपने ऊपर ले लेती हैं। वास्तव में राधा का यह चित्रण सूर की उत्कृष्ट एवं मौलिक उद्भावना है जो महाकवियों के द्वारा संभावित है।

प्रश्न २७—निम्नलिखित पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

१. 'हृदय के पारखी सूर ने सम्बन्ध भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है।'
२. 'सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की शैली पर है।'
३. 'सूर के भ्रमर-गीत का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः निर्गुणवाद का खण्डन और सगुणवाद का प्रतिपादन है।'
४ 'सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।'
५. 'राम और मुरली का आध्यात्मिक महत्त्व है।'

६. सूर की गोपियाँ।'

७. 'सूर की रचनाओं का मूल स्रोत।'

८. 'सूरदास जी में जितनी सहृदयता और भावुकता है प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्वैदग्ध्य भी है।'

१—'हृदय के पारखी सूर ने सम्बन्ध-भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है।'

प्रिय से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति हृदय में भाव-कुभावों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। कृष्ण गोप-गोपी, यशोदा-नन्द आदि के प्राण हैं। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उनके लिए अत्यन्त प्रिय है। कृष्ण से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु जो संयोग के समय अत्यन्त सुखदायक प्रतीत होती थी, उनके मथुरा चले जाने पर वे ही सब वस्तुएँ क्लेशकारिणी हो जाती हैं।

मुरली

सर्वप्रथम हम उनकी मुरली की ही बात लेते हैं। मुरली से सम्बन्धित 'सूर सागर' में अत्यन्त रसयुक्त प्रकरण हैं। इसके प्रसग से गोपियों की मनोदशाओं का अच्छा उद्घाटन हुआ है। उनके लिए यह कोई जड़ पदार्थ न रहकर उनकी सजनी बन जाती है। जब वे इसे श्रीकृष्ण का अधर-रस पान करते देखती हैं तो ईर्ष्या की भावना से तिलमिला उठती हैं। वे इसे स्वाधीन पतिका के रूप में भी देखकर क्षुब्ध होती हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि मानो इसने कृष्ण को सब प्रकार से आधीन कर रखा है। कृष्ण जी उन्हें कमर झुकाकर इसकी खुशामद और सेवा में रत दिखाई देते हैं। यह स्वय तो अधर-सेज पर शयन करती है और कृष्ण से पैर दबवाती है। उन्हें ऐसा लगता है कि इसी के कारण सम्भवतः कृष्ण उनसे खिंचे-खिंचे से रहते हैं। यह चुपके-चुपके उनकी बुराई करती प्रतीत होती है। तभी तो मुरली-वादन के रूप में वे हम पर नासापुटों को फुला कर रोष करते हैं। देखिये, कितना सुन्दर वर्णन है—

"मुरली तऊ गोपालहि भावति ।
सुनरी सखी जदपि नन्द-नन्दहि नाना भाँति नचावति ।
राखति एक पाँव ठाढ़ो करि, अति अधिकार जनावति ।
अति आधीन सुजान कनौड़ा गिरधर नारि नवावति ।
भृकुटि कुटिल कोप नासापुट हम पर कोप कुपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छन अधर सुसीस डुलावति ॥"

उद्धव

उद्धव जी के प्रति भी गोपियों की समस्त-भावना सम्बन्ध भावना के रू में ही है । उन्हें देखकर तथा यह जानकर कि वे कृष्ण जी के सखा हैं, गोप गोपी आदि उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं । वे सब उनके पास अत्यन्त प्रे और आदर के साथ जाते है और उससे कृष्ण जी का समाचार पूछ हैं । गोपियाँ यह जानकर कि कृष्ण के अभिन्न हृदय सखा हैं, एक सर्वथा अपरि चित व्यक्ति को भी चिर-परिचित मान लेती हैं । वे उन्हें भ्रमर के रूप i सम्बोधन करके जो मन में आता है सो कहती हैं ।

"मधुकर तुम रस-लम्पट लोग ।
कोमल-कोस में रहत तिरन्तर हमहिं सिखावत जोग ॥"

× × ×

"यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे ।
"तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे मधुप भंवारे ॥"

× × ×

"मधुकर जानत हैं सब कोऊ ।
जैसे तुम और मीत तुम्हारे गुननि निपुन हैं दोऊ ।
पाके चोर हृदय के कपटी तुम कारे आमोऊ ।"

मोर-पंख तथा पत्री

मोर-पंख भी जिनका मुकुट श्री कृष्ण धारण करते थे, सब के लिए अत्यन्त

प्रिय हैं। गोपियों को कृष्ण की भेजी हुए पत्रों से भी बड़ी प्रीति हो जाती है। इसका चित्रण सूरदास जी ने इन पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

> 'निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
> लोचन-जल कागद मस मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥"

कुब्जा

सम्बन्ध-भावना के ही कारण गोपियाँ उस कुब्जा पर तक क्रोधित हो जाती हैं जिसको उन्होंने कभी नहीं देखा। वे समझती हैं कि उद्धव जी कुब्जा के दूत ही हैं, कृष्ण के दूत नहीं। कहाँ तक कहें, सूरदास जी ने कृष्ण से सम्बन्धित सभी वस्तुओं से गोपियों का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया है। विरह की दशा में पी-पी पुकारने देखकर पपीहा को वे अपने जैसा समझ कर यह कह उठती हैं—

> बहुत दिन जियो पपीहा प्यारे'

तब मधुवन को हरा-भरा देखकर उनका हृदय क्षुब्ध हो उठा और वह कह उठती हैं।

> "मधुवन तुम कत रहत हरे।
> विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूरदास जी ने सम्बन्ध-भावना की व्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर प्रसार दिखाया है। अनेक असम्बन्धित तथा निर्जीव वस्तुएँ कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त सुन्दर रूप में चित्रित हैं। सभी के प्रति अपने प्रणय अथवा विरह के कारण गोपियाँ अपनी रीझ अथवा खीझ प्रकट करती हैं। वृन्दावन के प्रत्येक अणु से कृष्ण का सम्बन्ध है और सूर ने भी सभी से आत्मीयता की है। सूरदास जी की व्यंजनाप्रधान आत्म-शैली संबंध-निर्वाह में बहुत सफल हुई है।

२. 'सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की
शैली पर है।'

प० सुमित्रानन्दन पन्त की इन पंक्तियों के आधार पर

> 'वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान।
> उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।"

कहा जा सकता है कि गीतों के प्रस्फुटन से ही कविता का जन्म हुआ है
गीत-काव्य की प्राचीनता पर यदि दृष्टिपात किया जावे तो स्पष्टतः विदि
होगा कि भारतीय साहित्य में सामवेद गीतों का प्रथम ग्रन्थ है। आरम्भ
गीत-काव्य धार्मिक पृष्ठभूमि को लिए हुए था। गीतों की परम्परा अलौकिक
की ओर ही अधिक उन्मुख थी। हाँ, मध्यकालीन राजनीतिक हलचलों
गीतों में ओज की प्रधानता ला दी थी, किन्तु यह बहुत थोड़े दिन तक र
सकी। शान्ति के वातावरण में पनपना उसका एक स्वभाव बन गया था
जब एकान्त में बैठता तभी सहज हृदयोद्गारों के रूप में गीत प्रस्फुटित
उठते। सदैव से ही इनमें हृदय के कोमलतम भावों का प्रकाशन हो
रहा है।

जयदेव

गीतों की रचना संस्कृत साहित्य में पर्याप्त मात्रा में हुई है किन्तु
महत्ता जयदेव के 'गीत गोविंद' को प्राप्त हुई, वह अन्य किसी गीत-का
को नहीं। गीतों के लिए जिस माधुर्य और मार्दव की अपेक्षा होती है, उस
उत्कृष्टतम रूप 'गीतगोविंद' में प्राप्त होता है। जयदेव ने अपने
गीति-काव्य में भगवान श्रीकृष्ण की प्रणय-लीला का ही गान किया है
शृंगारिकता तथा अश्लीलता का उसमें इतना आधिक्य हो गया है कि
लोगों को उसमें लौकिकता का आभास होने लगता है। कुछ भी हो, इत
अवश्य मानना पड़ेगा कि उसमें गेयतत्व की अपूर्व प्रधानता है। उसमें इ

से सम्बन्धित कोमल वृतियों को लेकर कोमलकान्त पदावली में बड़े ही सुन्दर गीत रचे गये हैं।

चण्डीदास और विद्यापति

जयदेव का ही अनुकरण चण्डीदास और विद्यापति ने किया। विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से इन दोनों कवियों ने जयदेव का अनुकरण किया है। जो लोकप्रियता जयदेव के गीतों को प्राप्त हुई थी, वही लोकप्रियता इन दोनों कवियों के गीतों को भी प्राप्त हुई। इन गीतिकाव्यकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इन्होंने अपने काव्य में गेयत्व को ही प्रधानता दी। उन्होंने अपने पदों में कथात्मकता का तो अधिक से अधिक बहिष्कार किया है। इसके अतिरिक्त वे अपने गीतों में धार्मिकता का रंग भी अधिक नहीं चढ़ने दिया है। उनके गीतों में प्रेम तथा भक्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देता।

सूर का गीति-काव्य

महात्मा सूरदास ने 'सूरसागर' की रचना में इन्हीं कवियों का अनुसरण किया है। उन्होंने सवा लाख पदों की रचना काव्य-शास्त्र में प्रचलित छन्द-शास्त्रीय पद्धति में न करके राग रागनियों में की है। इसे उक्त कवियों का अनुसरण ही माना जायेगा। सूरदास जी ने इतने विशाल काव्य की रचना की, किन्तु उसमें जीवन-गाथा गाने का कोई उद्देश्य नहीं है। यह भी उक्त कवियों का ही अनुसरण है।

माधुर्य भाव

जयदेव और विद्यापति की भाँति सूरदास जी ने भी कला का चरम रूप नखशिख वर्णन, रूपचित्रण, प्रणय तथा विरह निवेदन में ही दिखाया है। इन्हें प्रसंगों के वर्णन उनके काव्य में मुख्य रूप में प्राप्त होते हैं। आत्म विभोरता संगीतात्मकता तथा लालित्य 'सूरसागर' की अद्वितीय विशेषतायें हैं। जयदेव, और विद्यापति की भाँति सूर भी भगवान् को बाहर नहीं खोजते, अन्दर ही

सूर की मौलिकता

सूरदास जी की एक अद्वितीय विशेषता यह है कि उन्होंने जयदेव और विद्यापति का अनुसरण तो अवश्य किया, किन्तु उसमे भी अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रक्खा। सूरदास जी एक प्रतिभाशाली कलाकार थे। कृष्ण के प्रति राधा का स्वकीया प्रेम सूरदास जी की अपनी प्रतिभा का ही फल है। राधा और कृष्ण के अभिसार, मान, सुरति तथा नखशिख वर्णनों मे उन्होने अभिधा का प्रयोग न करके व्यंजना का प्रयोग किया है। नखशिख वर्णन में तो उन्होने दृष्टिकूटों का प्रयोग कर दिया है। शृंगारिक प्रसगों में ईश्वरत्व के उद्घाटन द्वारा उन्होंने अपने वर्णनों को लौकिकता की दुर्गन्ध से बचा लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने शृंगारिक वर्णनों मे किसी न किसी प्रकार अलौकिकता को बनाये रखा है जिससे उसमे जयदेव के 'गीत-गोविंद' तथा विद्यापति की 'पदावली' की भाँति अश्लीलता के दर्शन नहीं हो पाते। स्तुति के रूप मे 'गीत-गोविंद' की रचना करके जयदेव ने भक्ति के क्षेत्र मे अच्छा प्रचार पाया था, किन्तु उनके वर्णनो मे अश्लीलता के दर्शन अवश्य होते हैं। सूरदास के पद इस दोष से अधिकांश में बचे ही रहे हैं।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि सूर ने 'सूरसागर' की रचना जयदेव और विद्यापति के गीति-काव्यों की शैली पर ही की है। किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उन्होने अश्लीलता के उस दोष से संदेस अपने पदों को बचाये रखा है जिसकी कि जयदेव और विद्यापति के गीतो मे भरमार है।

३. 'सूर के भ्रमरगीत का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः निर्गुणवाद का खण्डन तथा सगुणवाद का मण्डन है।'

'भ्रमरगीत' 'सूरसागर' काव्य का सर्वाधिक रसमय प्रसग है। इसके अन्तर्गत गोपियाँ भ्रमर नाम से उद्धव को सम्बोधित करके तर्क घोर अनुनय के आधार पर ज्ञानवाद का खंडन करती हैं। बात यह है कि महाकवि सूर ने

इस प्रसंग के द्वारा दो उद्देश्यों की पूर्ति की है। इस प्रसंग की ऐसी दो विशेषतायें हैं जिनकी प्रशंसा किये बिना कोई भी सहृदय पाठक नहीं रह सकता।

भक्ति का महत्व

इन दो विशेषताओं में से एक तो यह है कि इस प्रसंग में कवि ने विप्रलम्भ शृंगार की अत्यन्त मधुर अभिव्यजना की है इसके पदों में गोपियों की विरहानुभूति का उदधि उमड़ पड़ता है। दूसरी विशेषता यह है कि सूर सच्चे प्रेम-मार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञान मार्ग के त्याग और पवित्रता के समक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं। दूसरे शब्दों में यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि वे ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने में पूर्णतया सफल हुए हैं।

महात्मा सूरदास के समय में ज्ञान मार्गियों द्वारा भक्ति की अत्यन्त शोचनीय दशा बनायी जा रही थी। ज्ञानी सन्त और नाथो ने भक्ति का बहुत बुरी प्रकार खण्डन किया था। आये दिन अब भी भक्ति-मार्ग वालो से उनके शास्त्रार्थ हुआ करते थे। सूर सगुण मार्गी थे, अतः वे अपने ग्रन्थ 'सूरसागर' में सगुणवाद का प्रतिपादन किये बिना कैसे रह सकते थे? तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावहीन रहना सूर के लिए असंभव था। उन्होंने 'सूरसागर' में भ्रमरगीत की उद्भावना करके ज्ञान और भक्ति का यह तत्कालीन विवाद प्रस्तुत किया है और ज्ञान को भक्ति के सम्मुख पराजित करा दिया है। श्रीकृष्ण जी मथुरा से उद्धव को ब्रज में इसी लिए भेजते हैं कि उनका ज्ञान-गर्व गोपियों की सहृदयता के आगे मिट जाय और वे भी प्रेम रसिक बन जायें। उद्धव सदैव कृष्ण जी के साथ रहते थे और सदा ज्ञान-मार्ग की नीरस बातें करते रहते थे। कृष्ण जी अपने प्राचीन ब्रज-प्रेम का वर्णन किसी के सम्मुख नही कर पाते थे। उद्धव जी की इसी शुष्क वृत्ति को सरस कर देने के हेतु श्रीकृष्ण जी उन्हें गोपी-पुरुषों के निकट भेजते हैं। उद्धव

जी ज्ञान मार्ग में पहुंचे हुए हैं। उनकी समस्त उक्तियाँ तर्क और विचार से परिपूर्ण हैं। उनकी समस्त बातें नीरस एवं शुष्क हैं, उनमें प्रेम की सरसता का अंश भी नहीं है। गोपियाँ उद्धव जी की समस्त नीरस एवं शुष्क बातों का अपनी प्रेम ठठोली तथा एकान्त सरस प्रेमानुभूति के बल पर खंडन करती हैं। अपने प्रेम की विवशता का प्रदर्शन करके तथा उद्धव जी पर व्यंग्य की करारी चोट करके वे उनकी बोलती बन्द कर देती हैं। बेचारे उद्धव जी को गोपियों की बातों का कोई उत्तर ही नहीं सूझता। अशिक्षित ग्रामीण किन्तु प्रेम-योगिनी गोपियों के समक्ष एक प्रसिद्ध ज्ञानी योगी का मुंह की खानी पड़ती है। वह गोपियों से पराजित होकर मथुरा जाता है और कृष्ण से ब्रज लौटने का निवेदन करता है। कृष्ण जी उद्धव पर व्यंग्य कसते हैं—

'आएहु जोग सिखाय।'

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि ज्ञानमार्गी उद्धव भक्ति मार्गी गोपियों के समक्ष पराजित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि ज्ञान-मार्ग भक्ति-मार्ग के समक्ष तुच्छ सिद्ध हो जाता है। सूर के भ्रमरगीत का यही उद्देश्य है। वास्तव में भ्रमरगीत में महाकवि सूर निर्गुणवाद का खण्डन और सगुणवाद का प्रतिपादन करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उनका यही उद्देश्य भी था।

(४) 'सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।'

'सूर' के प्रेम के विषय में उक्त विचार हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने व्यक्त किये हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूर साहित्य के गम्भीर अध्ययन के पश्चात उक्त विचार प्रगट किये हैं।

श्रीकृष्ण

'सूरसागर में प्रेम के पात्र श्रीकृष्ण हैं। गोपियाँ और राधा उनमें अनुरक्त

... है। उनके हृदय में जो अतुलनीय प्रेम उत्पन्न हुआ है उसमें वास्तव में रूपलिप्सा और माहात्म्य दोनों का सम्मिलित योग है। श्रीकृष्ण जी वास्तव में इतने रूपवान चित्रित हैं कि गोपियाँ और राधा स्वभावतः उनकी ओर आकर्षित हो जाती हैं। सूर की गोपियाँ कृष्ण-रूप पर अपने को बलिदान कर देती हैं। उनके रूप ने उन्हें प्रेम-विह्वल बना दिया है। उनका रूप ही उनके हृदय में ऐसा गड़ गया है कि किसी प्रकार निकलता ही नहीं है। कृष्ण जब शिशु ही थे तभी से उनका अलौकिक सौंदर्य गोपियों को आकर्षित कर लेता है। उनका प्राकृतिक शारीरिक सौन्दर्य तो अतुलनीय है ही, उस पर पीताम्बर, काछनी और मुकुट तथा इन सबसे भी अधिक मुरली ब्रज युवतियों को अपनी ओर आकर्षित करने के प्रभावशाली साधन हैं। आरम्भ में तो गोपियाँ उनके इस प्रकार के सौन्दर्य से ही प्रभावित होती हैं। किन्तु कृष्ण जब बड़े होते हैं तो उनकी चपलता, चातुर्य तथा पौरुषपूर्ण विनोद गोपियों के मन को वशी-भूत कर लेता है।

विनोदपूर्ण लीलाएँ

माखन-चोरी से भी आगे उनकी विनोद पूर्ण लीलायें बढ़ती ही जाती हैं। चीर-हरण, दानलीला, पनघट-लीला, रासलीला आदि अनेकों लीलाओं में कृष्ण जी गोपियों के साथ रहते हैं। इस प्रकार के साहचर्य से भी प्रेम-भावना का विकास होता है। इस प्रकार एक ओर तो रूप-सौन्दर्य का आकर्षण और दूसरी ओर उनका साहचर्य दोनों मिल कर गोपियों के हृदय में प्रेम की उस महान तरंग को उत्पन्न कर देते हैं कि वे 'कुल की कानि' की भी परवाह नहीं करतीं तथा 'रस सागर' 'रतिनागर' कृष्ण के प्रति पातिव्रत्य धारण करने का व्रत ले लेती हैं। उनके उद्धव जी को कहे हुए वचन हमारे इसी कथन की पुष्टि करते हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

> 'ऊधो मन नाहीं दस बीस।
> एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस।"

× × × ×

'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटत ।'

× × × ×

"उर में माखन चोर गड़े ।

अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो तिरछे ह्वं जु अड़े ॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर की गोपियों के हृदय में जो श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ है उसमें रूपलिप्सा और साहचर्य का ही योग है ।

राधा और कृष्ण

अब तनिक राधा और कृष्ण के प्रेम की भी परख कर लीजिये । राधा-कृष्ण के प्रेम में भी रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का सुन्दर योग दर्शनीय है । प्रथम मिलन में ही राधा कृष्ण जी का मोहन-रूप देखकर मुग्ध हो जाती है । राधा ही नहीं, कृष्ण जी भी नीली-साड़ी में गोरी राधा को देखकर मुग्ध हो जाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ भी परस्पर आकर्षण का कारण रूप ही है । बातों-बातों में 'राधिका गोरी' को कृष्ण जी 'मुरा' लेते हैं । नैन-नैन' मिल गये और ठगौरी पड़ गई । इतना आकर्षण हुआ कि गाय-दुहाने तथा खेलने आदि के बहाने नित्य राधा कृष्ण जी से मिलने लगी । दोनों साथ-साथ रहने तथा खेलने थे । गारुडी लीला के पश्चात् राधा कृष्ण की सभी लीलाओं में साथ-साथ रहती है । इस प्रकार राधा और कृष्ण के प्रेम की उत्पत्ति में भी रूपलिप्सा तथा साहचर्य दोनों का योग प्रमाणित है ।

अत. निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है ।

५. 'रास और मुरली का आध्यात्मिक महत्व ।'

श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि-सम्प्रदाय में रास और मुरली का एक विशेष महत्व है । महात्मा सूरदास ने भी इनमें अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से अलौकिकता की उत्पत्ति कर दी है । सूर की इस विषय की अलौकिकता

को समझने के लिए पुष्टि मार्ग में इनका आध्यात्मिक रूप देखना उपयोगी होगा।

पुष्टिमार्ग

पुष्टिमार्ग में रास और मुरली को जो आध्यात्मिक रूप दिया गया है, उसके अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और मुरली उनकी योगमाया है। वह अपने गम्भीर और आकर्षक स्वर से समस्त जीवों का आवाहन करती है। वह उनकी मोह-निद्रा को तोड़ देती है और उन्हें जागरूक कर देती है। गोपियाँ जीवों का प्रतीक है। श्रीकृष्ण उन्हें अपनी योगमाया मुरली के स्वर द्वारा अपने पास बुलाते हैं। उन्हें उसके स्वर का इतना आकर्षण होता है कि वे अपने सारे गृह-कार्यों को छोड़ कर उनके निकट आ पहुँचती हैं। यही वह आध्यात्मिक रूपक है जिसके आधार पर सूर आदि पुष्टिमार्गी भक्त कवियों ने मुरली के अलौकिक प्रभाव का वर्णन किया है। भागवत में यही वेणु-वादन के रूप में वर्णित है।

रास

'रास' का भी मुरली की भाँति ही आध्यात्मिक महत्व है। सूर ने 'रास' को गन्धर्व विवाह की संज्ञा दी है। 'रास' का आध्यात्मिक अर्थ है—'जीव और ब्रह्म का आध्यात्मिक संयोग।' परब्रह्म कृष्ण अपनी योगमाया रूपी मुरली से गोपी-रूप समस्त जीवों को अपने पास बुलाते हैं और गोपी-रूप समस्त जीव उनके समीप एकत्र होकर आनन्द-लाभ करते हैं। 'रास' में गोपियाँ कृष्ण को अपना सब कुछ समर्पण करके उनकी ही हो रहती हैं और इस प्रकार परकीया न रहकर स्वकीया बन जाती हैं। इस प्रकार 'रास' से यही अर्थ अभिप्रेत है कि जीव अपना सब कुछ आत्मसमर्पण करके स्वयं भी भगवदार्पण हो जाता है। जब गोपियाँ अभिमान प्रकट करती हैं तो कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं तथा जब उनके विरह में व्याकुलता बढ़ती है तो फिर प्रकट हो जाते हैं। इससे यही तात्पर्य है कि जब तक जीव के मन में अहंकार

रहता है तब तक भगवान् के दर्शन नहीं होते और जब वह सच्चे मन से भगवान् के विरह में व्याकुल हो जाता है तब भगवान् दर्शन दे देते हैं। जब तक अहकार रहता है तब तक आत्मसमर्पण नहीं हो पाता अतः भगवान दूर रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जब अनन्य प्रेम जनित विरह-वेदना जागृत होती है तो भववान अपना लेते हैं। 'राम' के इसी आध्यात्मिक रूपक के महत्व को सूर ने समझा है और इसीलिए उसे अत्यधिक महत्व दिया है। श्री बल्लभाचार्य जी ने भी भक्त की अंतिम प्रशान्ति तथा तन्मयता रास में ही मानी है। सूर ने भी इसलिए 'रास' का पर्याप्त वर्णन किया है।

६. 'सूर की गोपियाँ'

महात्मा सूरदास श्रीकृष्ण जी को परब्रह्म मानते हैं और गोपियों को उनकी शक्ति। इसमें सन्देह नहीं कि शक्ति अपने आश्रय से कभी भी प्रथक नहीं होती। इस आधार पर कृष्ण और गोपियों में कोई अन्तर नहीं है। सूर ने स्वयं लिखा है—

"गोपी-ग्वाल कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारे।"

अध्यात्म पक्ष

अध्यात्म पक्ष में भी गोपियों पर विचार करना आवश्यक है। इस दृष्टि से यदि कृष्ण आत्मा हैं तो गोपियाँ इस आत्मा की वृतियाँ हैं, किन्तु एक बात अवश्य दृष्टव्य है। आत्म-तत्व के होते हुए भी वृतियाँ अनेक हैं और भिन्न-भिन्न रूपवाली हैं। यही कारण है कि भागवत और 'सूरसागर' में उनके कई रूप दृष्टगत होते हैं। पहले भागवत में ही देखिये—

"गोप जाति प्रतिच्छन्ना देवा गोपाल रूपिण"

इसका अर्थ यह हुआ कि गोपी व गोपों के रूप में देवता ही प्रकट हुए हैं। अब तनिक सूरसागर में भी देखिये—

"यह बानी कहि सूर सरन को अब कृष्ण अवतार।

कह्यो सबनि ब्रज जन्म लेहु संग हमरे करहु विहार।"

इन दोनों रूपों अर्थात् भगवान् की प्रकृति-स्वरूपा तथा देव-विग्रही गोपियों के अतिरिक्त कुछ गोपियां ऐसी भी थीं जो पूर्वजन्म में देव कन्याओं, श्रुतियों, तपस्वी, भक्तों व ऋषियों के रूप में रह चुकी थीं और भगवान् के साथ उनकी सेवा करने के हेतु अवतार लेना चाहती थीं। पद्मपुराण इस प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसमें लिखा है कि उग्रतपानाम के मुनि सुनन्द नामक गोप की कन्या सुनन्दा के रूप में अवतरित हुए।

महात्मा सूरदास ने भी 'सूरसागर' में एक स्थान पर गोपियों को वैदिक ऋचाओं का अवतार बताया है—

"ब्रज सुन्दरि नहिं नारि, ऋचा श्रुति की सब आहिं।
मैं (ब्रह्मा) अरु शिव पुनि लक्ष्मी तिन सम कोऊ नाहीं।"

महात्मा सूरदास के गुरू श्री वल्लभाचार्य जी ने एक स्थान पर उन्हें लक्ष्मी अंश तथा उसके साथ विचरण करने वाली कहा है –

'श्रुत्यन्तर रूपाणां गोपिकानाम्'।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूर की गोपियां भिन्न-भिन्न रूपा थीं। इनमें से कुछ ऋचायें थीं। कुछ देव-कन्यायें थीं, कुछ ऋषि थे और कुछ स्वयं परब्रह्म की अन्तरंग शक्तियां थीं। इन गोपियों की संख्या सोलह सहस्र मानी जाती है।

(७) 'सूर की रचनाओं के मूल स्रोत'

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर कहा जा सकता है कि महात्मा सूरदास श्री वल्लभाचार्य जी के अनन्य शिष्य थे और उन्होंने एक ही रात में सम्पूर्ण भागवत की अनुक्रमणिका कह कर 'लीला भेद' बता दिया था। साथ ही उसमें यह भी स्पष्ट है कि तभी से सूरदास जी ने भक्ति के इस मार-

पथ को अपना लिया था और कृष्ण-काव्य की रचना करके उसे अमर बना दिया और स्वयं भी अमर हो गये।

श्रीमद्‌भागवत

इसी बात को सभी विद्वान एक मत से मानते हैं कि सूरदास जी पर 'श्रीमद्‌भागवत' का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा है। उन्होंने इस विषय में स्वयं कहा है—

> "श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाई।
> ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाई॥
> व्यास कहे शुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाइ।
> 'सूरदास' सोई कहे पद भाषा करि गाइ।"
>
> × × ×
>
> 'जैसे शुक को व्यास पढ़ायो, सूरदास तैसे कहि गायो।
> सूर कह्यो भागवत अनुसार.......................॥'

किन्तु 'सूरसागर' भागवत का अनुवाद-मात्र नहीं कहा जा सकता। यद्यपि उसमें भागवत के दशम स्कन्ध की कथा की ही प्रधानता है तथापि वह एक स्वतंत्र रचना ही मानी जायगी। बालक कृष्ण तथा बालिका राधा के साथ खेलने के प्रसंग और भ्रमरगीत की व्यंग्यमयी उक्तियाँ भागवत में खोजने पर भी न मिलेंगी। निर्गुण और सगुण का विवाद भी भागवत में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता जब कि 'सूरसागर' के भ्रमरगीत का मुख्य उद्देश्य ही यह है। कलेवर की दृष्टि से भी 'सूरसागर' भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं माना जा सकता।

पुराण

भागवत के अतिरिक्त सूरदास जी ने ब्रह्माण्ड पुराण तथा वामन पुराण से भी कथायें ली हैं। प्रमाण के लिए यह बताया जा सकता है कि वामन

भागवत तथा जयदेव और विद्यापति का नाम इस दृष्टि से अवश्य लेना पड़ेगा। 'सूरसागर' पर इन्हीं का प्रभाव सर्वाधिक है।

८. "सूरदास जी में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्वैदग्ध्य भी है।"

महाकवि सूरदास ने 'सूरसागर' मे अनेक स्थलों पर भावुकता और वाग्विदग्धता का जो सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है वह देखते ही बनता है। वे वात्सल्य और विप्रलम्भ श्रृंगार के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

बाल-वर्णन

पहले हम उनके बाल-वर्णन को ही लेते हैं। इसके अन्तर्गत सूरदास ने जो चतुरता एवं वाग्वैदग्ध्य दिखाया है, दर्शनीय है। माखन-चोरी के प्रसंग मे कृष्ण जी के माखन चुरा लेने पर तथा उनके मुख को सना देखकर जब माता यशोदा पूछती है तो कृष्ण जी का उत्तर देखिये। वे कहते हैं कि हे माता! मैंने माखन नही खाया। मैं तो दोपहर तक गायो के पीछे पीछे जंगल मे फिरता रहा हूँ। जिस बर्तन में माखन रखा था वह तो ऊँचे पर छीके पर टगा हुआ है। भला मुझ छोटे से बालक के हाथ इतने ऊँचे पर कैसे पहुँच सकते थे? किन्तु माता की सन्तुष्टि इतने से ही कैसे हो सकती थी जबकि वह उनका मुख माखन से सना हुआ देख रही है। कृष्ण जी ने इसका भी समाधान किया। उन्होंने कहा कि हे माता! ये ग्वाल-बाल सब मेरे शत्रु बने हुए हैं, इन्होंने ही बरबस मेरे मुख पर माखन लपेट दिया है। माता यशोदा बालक की इस चतुरता पर मुग्ध हो गई और उसे गले लगा लिया।

अपने ही घर नहीं, एक दिन तो वे किसी दूसरी गोपी के घर माखन की हाँडी में हाथ दिये पकड़े गये। किस चतुरता से वे गोपी की शंका का समाधान करते हैं, वह इन पंक्तियों में देखिये—

"हौं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे हो आयो।

वैखत ही गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो ॥"

कृष्ण जी को माखन-रोटी बहुत प्रिय थी, किन्तु यशोदा जी बच्चे को दूध पिलाना अधिक स्वास्थ्यवर्द्धक समझ कर उन्हें दूध पिलाना चाहती थी। उन्होंने कृष्ण को बहकाया—

"कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़ै।"

कृष्ण जी बहकाने में आ गये और दूध पीने लगे किन्तु साथ ही कहने लगे—

"मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किति बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी॥"

कितने उदाहरण दिये जायें, 'सूरसागर' का बाल-वर्णन ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

भ्रमरगीत

अब तनिक भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत भी इस कथन की परीक्षा करें। उद्धव की योग-चर्चा सुन कर गोपियाँ उनकी बातों का तर्कों से उत्तर नहीं देतीं। वे तो अपना हृदय ही खोल कर रख देती हैं—

"प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी।
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम-भजन तजि करत उदासी॥

उनकी आँखें हर समय हरि दरशन को भूखी रहती हैं। उनके बिना दिन रात उनके नेत्रों से वर्षा होती रहती है। कृष्ण तो उनके लिए 'हारिल की लकरी' के समान है। उद्धव जी के वचन यद्यपि उन्हें अत्यन्त कटु प्रतीत होते हैं। तो भी वे नम्रता का ही व्यवहार करती हैं। वे कहती हैं कि हे ऊधो हम तो आपका जोग भी मान लेतीं, पर विवशता तो यह है कि जोग भी तो मन से ही साधा जायगा और मन हमारे पास रहा नहीं। वह चला गया कृष्ण के साथ। फिर दस-बीस मन होते तो एक मन से जोग की साधना भी

कर लेती। मन तो एक ही है—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।"
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस।।"

वाग्वैदग्ध्य

यह तो हुई सहृदयता की बात, अब तनिक वाग्वैदग्ध्य भी देखिये। सूरदास जी की गोपियाँ नन्ददास जी की गोपियों की भांति शास्त्रार्थ नहीं करती। वे तो अपनी विवशता का प्रदर्शन ही करती हैं—

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े।"
'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटत।'

इन पंक्तियों में विवशता के साथ साथ गोपियो की चतुरता एवं वाग्वैदग्ध्य भी देखते ही बनता है। वे उद्धव जी का उपहास भी बड़ी चतुराई से करती हैं—

"आयो घोष बड़ो ब्यौपारी।
लादि खेप गुन ग्यान जोग की ब्रज में आन उतारी।।"

इस प्रकार गोपियां अपने वाग्वैदग्ध्य तथा सहृदयता से उद्धव जी को निरुत्तर कर देती हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सूरदास जी में जितनी सहृदयता तथा भावुकता है, उतनी ही चतुरता और वाग्वैदग्ध्य भी है।

प्रश्न २८—कवित्व शक्ति की दृष्टि से सूर और तुलसी की तुलना कीजिये।

सूर और तुलसी हिंदी-साहित्य की उन दो महान् विभूतियों के नाम हैं जिन्हें अपने-अपने काल की साहित्यिक युग की जन्मदात्रियाँ कहा जा सकता है।

कविता के विषय मे यही कहना उपयुक्त जान पड़ता है कि कविता दोनों का साध्य नहीं, साधन थी।

दोनों ही महान् कवि काव्य के तत्वों से पूर्णरूपेण परिचित थे। दोनों ही इन तत्वों का उपयोग करने में पूर्ण रूप से कुशल थे। तुलसी ने काव्य-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था, यह बात उनकी जीवनी तथा साहित्य से स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने विधिवत् काशी में एक शेष सनातन नामक महात्मा से शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। सूरदास जी के विषय में यद्यपि कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने इस प्रकार किसी गुरू से उच्च शिक्षा प्राप्त की हो, तो भी 'सूरसागर' तथा 'साहित्य लहरी' इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि वे काव्य-शास्त्र के परम विज्ञ आचार्य थे। रस, रीति और अलंकार आदि के प्रयोग में जैसे तुलसी परम कुशल प्रतीत होते हैं, वैसे ही सूर भी परम कुशल दृष्टिगत होते हैं। 'साहित्य लहरी' सूर की काव्यकला ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है। 'सूरसागर' में भी जहाँ एक ओर काव्य के भावपक्ष का चरम विकास दिखाई देता है, वहाँ दूसरी ओर उसका कलापक्ष भी न्यून नहीं कहा जा सकता। भाषा पर दोनों का ही असाधारण अधिकार है। इस प्रकार दोनों ही मन के गहरे से गहरे और सूक्ष्म भावों के पारखी चित्रकार हैं। दोनों की अभिव्यंजना शक्ति असीम है।

विषमताएँ

दोनों के महान् व्यक्तित्व के भेद से, दोनों के भिन्न मार्गों के भेद से, दोनों के दृष्टिकोणों के भेद से दोनों की काव्य-शैली, काव्य के विषय और क्षेत्र भिन्न-भिन्न हुए हैं। अतएव दोनों में विभिन्नतायें भी हैं। पहले हम इसकी दृष्टि से ही इन दोनों महाकवियों की समीक्षा करेंगे।

काव्य-विषय की दृष्टि से यदि देखा जाय तो तुलसी का क्षेत्र विस्तृत है और सूर का अविस्तृत। महात्मा सूरदास ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के बाल और युवा रूप का ही चित्रण किया है। इसके विपरीत तुलसी ने अपने इष्टदेव राम के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण प्रस्तुत किया है।

वात्सल्य रस

सूर के काव्य मे शृंगार तथा वात्सल्य रस का ही बोलबाला है और तुलसी के काव्य में सम्पूर्ण रसों का सुन्दर परिपाक देखने को मिल सकता है, किन्तु वात्सल्य और शृंगार रस के निष्पादन में सूर अपनी उपमा नहीं रखते। मन के इन दो कोमलतम और मधुरतम भावों के क्षेत्र का ऐसा कोई भी गुप्त तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म कोना नहीं है जिसका विशद चित्र इन नेत्र-विहीन महाकवि ने अपने गीतों में न उतारा हो। इन दोनों रसों की दृष्टि से यदि इन दोनों महाकवियों की तुलना की जाय तो कहना पड़ेगा कि सूरदास जी तुलसी से बहुत आगे हैं। शृंगार वर्णन तो दास्य भक्ति की मर्यादा में बंधे तुलसी सूर जैसा कर ही कैसे सकते थे? वात्सल्य वर्णन में भी वे बालक के स्थूल रूप का ही चित्रण अधिक कर पाये हैं, उसके मानसिक पक्ष का नहीं। दोनों के काव्यों से कुछ उदाहरण देने से इस बात की पुष्टि हो जायगी। पहले सूर के बाल-वर्णन का एक पद देखिये—

"जसोदा हरि पालने झुलावै।
मलहरावै, दुलराइ हलावै जोइ सोई कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगहि आवै तो को कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनी पावै॥"

अब तुलसी की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"प्रात भयो तात, बलि मातु बिधु बदन पर।
मदन वारौं कोटि उठो प्रान प्यारे॥

सूत मागध बन्दि बदत बिरदावलि ।
द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे ॥"

× × × ×

"करतल गहि ललित चाप भंजन रिपु निकुरचाप ।
कटितट पटपीत तून सायक अनियारे ॥
उपवन मृगया विहार कारन गवने कृपाल ।
जननी मुख निरखि पुन्य पुंज निज विचारे ॥"

× × × ×

"छाँड़ौ मेरे ललित ललन लरिकाई ।
ऐहैं सुत देखवार कालि तेरे बबै ब्याह की बात चलाई ।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि, हसिहैं नई दुलहिया धाई ॥"

दोनों कवियों के इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सूर ही तुलसी से बहुत आगे थे। वात्सल्य रस के चित्रणों में सूर की तुलसी ही क्या विश्व का कोई भी कवि समता नहीं कर सकता। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि तुलसी की पहुँच कम थी। पहुँच तो तुलसी की भी बहुत थी, किन्तु वे सूर की समता इस दृष्टि से नहीं कर सकते थे। सूर के बाल-वर्णन में जो मधुरता एवं स्वाभाविकता है वह तुलसी के वर्णनों में नहीं मिल सकती।

शृंगार रस

अब दोनों ही महाकवियों के शृंगार वर्णन के भी कुछ उदाहरण देखकर तुलना कर लीजिए। प्रेम का जैसा स्वाभाविक एवं मधुर चित्रण सूर ने दिखाया है, वैसा तुलसी में नहीं। सूर ने प्रेम के अन्तर्गत यह दर्शाया है कि कितनी मनोदशाएँ हो सकती हैं। इसके विपरीत तुलसी ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि इन मनोदशाओं पर संयम किस प्रकार किया जा सकता है? सूर प्रेम का वर्णन करते हैं तुलसी संयम और प्रेम का। दोनों के उदाहरण दृष्टव्य हैं।

राधा कृष्ण-प्रेम—

"खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा नयन बिसाल भाल दिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगौरी।"

सीता और राम का प्रेम—

"अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीने पलक कपाट सयानी।।
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहि कछु मन
सकुचानी।।"

तुलसी की सीता समझदार है और संकोचशीला है। सूर की राधा का प्रेम लरिकाई का प्रेम है जिसमें एक दूसरे को स्वाभाविक रूप से हृदय समर्पित किया गया है। सीता का प्रेम एक सामाजिक बंधन है जिसका हृदय से इतना सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार संयोग शृंगार की दृष्टि से भी सूर ही आगे हैं। उनमें जो स्वाभाविकता एवं रमणीयता है वह तुलसी में नहीं। तुलसी में मर्यादा ही सब कुछ है और सूर में हृदय ही सब कुछ है।

विप्रलम्भ शृंगार की दृष्टि से भी सूर का स्थान तुलसी से आगे ही बैठता है। तुलसी के वर्णनों में शिष्टाचार एवं मर्यादा का अंश अधिक मात्रा में है और सूर के वर्णन स्वच्छंद है तथा उनका हृदय निर्द्वन्द है। दास्य भाव में बंधे तुलसी शृंगार-वर्णन सख्य-भाव की भक्ति करने वाले सूर की भाँति स्वतन्त्र होकर कर ही कैसे सकते थे।

अतः शृंगार रस तथा वात्सल्य रस की दृष्टि से निश्चय ही सूर तुलसी से बहुत आगे हैं। इसका कारण यह है कि सूर का हृदय बंधनहीन है और [illegible] का बंधनयुक्त। एक में स्वच्छंदता है और दूसरे में मर्यादा। एक

माधुर्य को साथ लेकर चलता है और दूसरा आदर्श को।

तुलसी के विषय में एक बात अवश्य कही जायगी। सूर का क्षेत्र अविस्तृत है। उन्होंने अपने इष्टदेव के जीवन के प्रारंभिक काल का ही चित्रण किया है। अत: वे अपनी सारी कवित्व शक्ति इन्हीं दो रसों के परिपाक में लगा पाये हैं। तुलसी ने अपने इष्टदेव राम के जीवन की सम्पूर्ण झाँकी प्रस्तुत की है। अत: उन्हें अपनी कवित्व शक्ति नौ रसों के परिपाक में लगानी पड़ी है। सभी रसो के सफल निष्पादयिता तुलसी की कवित्व शक्ति को देखकर कौन आश्चर्य नही करेगा? तुलसी काव्य मे सभी रसों का सुन्दर एव स्वाभाविक परिपाक दिखाई देता है और सूर-काव्य में कुछ ही रसों का। अत: कवित्व-शक्ति तुलसी मे सूर से कम नहीं कही जा सकती। यदि वे सूर की भाँति केवल कुछ ही रसों के चित्रण प्रस्तुत करते तो सम्भवत: सूर के समान ही कर पाते और शायद सूर से भी आगे निकल जाते। वास्तव मे दोनों ही महाकवि थे। दोनो मे ही अपार कवित्व शक्ति थी। एक को छोटा और दूसरे को बड़ा बताना कोई सुगम कार्य नहीं है अस्तु रस की दृष्टि से यही कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि यदि तुलसी सभी रसों के सफल निष्पादयिता थे तो सूर शृंगार तथा वात्सल्य के अधीश्वर थे और तुलसी को बहुत पीछे छोड़ गये थे।

काव्य-रूप

इस प्रकार इन दोनों महाकवियो में अपार कवित्वशक्ति थी, किन्तु सूर ने मुक्तक काव्य रचा है और तुलसी ने प्रबन्ध काव्य। एक का क्षेत्र संकुचित है और दूसरे का विस्तृत। सूर ने प्रमुख रूप से गीतो में ही रचना की है और तुलसी ने तत्कालीन प्रचलित मुख्य-मुख्य सभी काव्य-पद्धतियो में रचना करके दिखा दी है। क्या चन्दवरदाई की कवित्त छप्पय पद्धति, क्या जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति तथा क्या कबीर आदि कवियो की गीत-पद्धति सभी मे तुलसी ने अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं और अधिकार पूर्वक की हैं। कहें तो कह सकते है कि इनकी सुन्दरता में और भी चार चाँद लगा दिये हैं। तुलसी

प्रबन्ध-पटु महाकवि थे। 'रामचरित मानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य है। अतः आवश्यक रूप से वे सर्वांग अच्छे और बुरे जीवन का पूर्ण चित्र उतार सके हैं। सूर में यह बात नहीं हैं। वे तो मुक्तक-गीतों के कवि थे। हाँ उनके गीतो के दो प्रकार अवश्य थे। एक तो भागवत के पद्यों के छायानुवाद रूप तथा दूसरा स्वतंत्र, किन्तु प्रबन्ध-पटुता का कोई प्रश्न ही सूर के साथ नही उठता। उनके पदों में श्रीकृष्ण का कुछ कथानक अवश्य चलता है किन्तु वह विशृंखलित, अपुष्ट तथा संकेत रूप में ही है, अतः प्रबन्ध-काव्य के उपयुक्त नही है।

इस प्रकार तुलसी की कवित्व शक्ति ही अधिक दिखाई देती है। सूर ने केवल मुक्तक गीत ही लिखे। तुलसी ने प्रबन्ध काव्य, स्फुट काव्य, गीति-काव्य सभी प्रकार के काव्य रचे। अतः तुलसी की कवित्व शक्ति अपरिमित प्रमाणित होती है। एक बात अवश्य है कि सूर के पद भी काव्य की प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण तथा सफल हैं। किसी अभाव को उनमें नहीं खोजा जा सकता। गेय-तत्व की दृष्टि से उनका जो महत्व है उसे देखकर कौन ऐसा प्राणी होगा जो सिर न हिला उठेगा—

> 'किधौं सूर को सर लाग्यो, किधौं सूर की पीर।
> किधौं सूर को पद लाग्यो, तन मन धुनत सरीर।'

ये पंक्तियाँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सूर के पद भी प्रभावोत्पादकता में किसी भी कवि के पदों से कम नहीं हैं। आज भी सूर के गीत धर्मी विधर्मी गायक निर्विरोध गाते हैं और रसोन्मत्त होकर झूमते दिखाई देते हैं।

भाषा

तुलसीदास जी कई भाषाओं के पंडित थे। उन्होंने ब्रज तथा अवधी दोनों भाषाओं में उत्कृष्ट रचनायें प्रस्तुत की हैं। इसके विपरीत सूर ने केवल ब्रज-भाषा को ही अपनाया है। दोनों कवियों का भाषा पर असाधारण अधिकार [illegible]। दोनों की भाषा भावों के अनुरूप है, किन्तु एक बात अवश्य है। सूर का

केवल एक भाषा पर ही अधिकार था और तुलसी का तत्कालीन सभी काव्य-स्वीकृत भाषाओं पर। अतः कवित्व शक्ति कुछ तुलसी में ही अधिक प्रतीत होती है। सूर की शुद्ध, संयत तथा साहित्यिक ब्रजभाषा को देखकर तुलसी के सामने उन्हें छोटा बताना ठीक नहीं है। कवित्व शक्ति का मापदंड गिनती ही नहीं है, अधिकार कितना है यह देखना चाहिये। अत सूर और तुलसी दोनों ही भाषा की दृष्टि से भी महान् पंडित थे। दोनों का ही भाषा पर असाधारण अधिकार था।

अलंकार विधान

अलंकार-विधान की दृष्टि से भी इन दोनो महाकवियों मे एक दूसरे को छोटा बड़ा बताना कठिन है। अलकारो ने दोनो के ही भावो को चार चाँद लगा दिये हैं। जिसे अलकारो का स्वाभाविक प्रयोग कहा जाता है, वह दोनों ही महाकवियो के काव्यो मे प्राप्त है। दोनों ही कवियों के काव्यो मे अलकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। रीतिकालीन कवियो की भाँति दोनो ही कवियों ने अलंकारों की प्रदर्शनी नहीं की है। दोनो के काव्य मे इनका उचित समावेश हुआ है। अलंकारों का जितना प्रयोग वांछनीय एवं स्वाभाविक माना जाता है उतना ही प्रयोग उनके काव्यों मे हुआ है। दोनों ही रससिद्धीस्वर महाकवि थे। अलंकारो की रसचित्रण में जितनी भी सहायता अपेक्षित है उतनी ही इन्होंने ली है। इनके प्रयोग से इनके कथनो मे तीव्रता ही आई है वे भार नहीं बन सके हैं। अतः अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी दोनो कवि समान हैं।

प्रकृति चित्रण

दोनों ही महाकवियो ने प्रकृति का सुभग, सुन्दर तथा रसमय चित्रण किया है। सूर ने प्रकृति-चित्रण रसोद्दीपन रूप मे किया है। उनके काव्य के दृश्यों का प्रारम्भ अधिकतर प्रकृति के कुंजो में ही होता है। वे स्वयं भी ब्रज के प्राकृतिक सौन्दर्य में रहते थे, अतः उनके काव्य में ब्रज की प्रकृति के

स्वाभाविक चित्र प्राप्त होते हैं। यद्यपि सूर ने प्रकृति का उतना विशद चित्रण नहीं किया जितना कि मानव और उसके मन का, किन्तु ब्रजभाषा में उस समय तक सर्वप्रथम इन्होंने ही इतने विशाल परिमाण में प्रकृति-चित्रण किया था। यद्यपि इनका प्रकृति-चित्रण अधिकांश मे लगी-बंधी परिपाटी में उपमा-रूपकों द्वारा ही हुआ है, तो भी उसकी सजीवता दिखलाई देती है। महात्मा तुलसीदास ने तो और भी निकट से प्रकृति का निरीक्षण किया था। अतः उनके प्रकृति-चित्र सूर से अधिक विशद, अधिक सूक्ष्म, अधिक स्वाभाविक एवं अधिक सजीव हैं। जहाँ वे प्रकृति की उपमाओं से उपदेशों की झड़ी लगा देते हैं वहाँ इनके प्रकृति-चित्रणों में नीरसता आ जाती है।

नवीन प्रसंगोद्भावना

दोनों ही महाकवियों में नवीन प्रसंगोद्भावना की भी प्रवृत्ति थी। सूरदास जी में यह प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। उनके असंख्य ऐसे पद इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें भागवत से स्वतन्त्र रूप में अनेक नवीन कल्पित प्रसग दिखाई दे जाते हैं। तुलसी में यह प्रवृत्ति सूर की अपेक्षा बहुत कम है। 'रामचरितमानस' में यद्यपि अनेक छोटे-छोटे कल्पित प्रसंग मिल जाते हैं न किन्तु इतने बड़े प्रबन्ध-काव्य को देखते हुए ये प्रसंग बहुत कम ही माने जायेंगे। बात यह है कि तुलसीदास प्रचलित प्रसंगों को ही लेकर चलने वाले कवि थे। नवीन उद्भावनाओं की रुचि उनमें बहुत कम थी। 'गीतावली' में सूरदास जी के अनुकरण पर उन्होंने कुछ नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। उन्होंने राम को झूला झूलने तथा राम रचने दिखाने की चेष्टा की है, किन्तु क्या वे सूर के समान सफल हुए हैं? सफल तो हुए ही नहीं, राम के गंभीर चरित्र की स्वाभाविकता भी जाती रही है।

* कुल मिलाकर ७०-७५ रचनाएँ कही जाती हैं। सूरदास जी के

नाम में भी २०-२५ रचनायें गिनाई जाती हैं, किन्तु प्रामाणिक रूप में दोनों की ही इतनी रचनायें प्राप्त नहीं होतीं। क्या रचनाओं की गिनती से कवियों की कवित्व शक्ति मापी जाती है ? यदि ऐसा है तो केवल एक रचना (बिहारी सतसई) करने वाले बिहारी को हिन्दी-साहित्य में इतना ऊँचा स्थान कैसे मिल गया ? कई दर्जन रचना करने वाले देव का रंग उनके सामने कैसे फीका पड़ जाता है ?

भावसाम्य और रूपसाम्य

दोनों महाकवियों की रचनाओं में अनेक स्थानों पर भाव-साम्य और रूप-साम्य भी मिलता है, किन्तु क्या इस समता का कारण कोई नकलवृत्ति है ? नहीं यह बात नहीं है। समसामयिक होने के कारण दोनों का एक दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक था। यदि प्रभावित न होते तो एक आश्चर्य होता, किन्तु सूर बड़े थे और तुलसी छोटे। अत. सूर की अपेक्षा सूर काव्य से तुलसी का प्रभावित होना ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। तुलसीदास ने जिस समय काव्य-क्षेत्र में अपने चरण रखे थे, उस समय तक सूर पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। रही रूप-साम्य की बात; इसके कारण हैं प्रति-लिपिकार अर्थात् लिखने वाले।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण के आधार पर क्या निर्णय निकाला जाय, कुछ समझ में नहीं आता। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के दो महान कलाकारों की तुलना ही नहीं हो सकती। दोनों ही अपने अपने काल की स्वतन्त्र महान् विभूतियाँ थीं। दोनों के जीवन के दो समान सत्य थे जो दोनों ने पूरे किये। अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही महात्मा अनुपमेय हैं। हिन्दी-साहित्य 'मानस' और 'सागर' जैसी अमर कृतियों को पाकर कृतकृत्य है। कृष्ण-चरित के क्षेत्र में सूरदास की ब्रज-भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। वात्सल्य और शृंगार के वे अद्वितीय साहित्यकार हैं। वात्सल्य में तो उनकी उपमा समस्त विश्व-काव्य

में भी नहीं मिल सकती। मुक्तक-कवियों के क्षेत्र में भी वे अग्र
रखते। उन जैसा सरस, भावपूर्ण तथा मधुर मुक्तक काव्य हिंदी
विश्व की समस्त भाषाओं में भी नहीं मिल सकता। प्रबन्ध-काव्य
तुलसी सदैव एक आदर्श के रूप में रहेंगे। 'मानस' जैसा प्रबन्ध
में तो क्या विश्व-साहित्य में भी नहीं मिल सकता।

अतः यही कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि ये दोनों
हिंदी साहित्य की दो प्रमुख धाराओं के प्रधान उन्नायक हैं। हिन्दी
ये दो युग पुरुष वे दो महान् प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनके बिना साहि
क्षेत्र अन्धकार से आच्छादित हो जायेंगे। इन दोनों महाकवियों
हिंदी-साहित्य में सदैव अमर रहेगा। जब तक हिंदी और हिन्
रहेगा, तब तक सूर तुलसी सूर्य और चन्द्र के समान भारतीय जाति
अपना अपार चकाश प्रसारित करते रहेंगे।

प्रश्न २६—"तुलसी मर्यादावादी भक्ति-पथ का अनुकरण कर
में कर्तव्य परायणता का प्रचार करने में अधिक सफल हुए हैं जबकि सूर
भक्ति-पद्धति ने सभी वर्गों में प्रेममय वातावरण उत्पन्न करने में अधिक स
दी है।" इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये तथा सूर और तुलस
भक्ति-पद्धति का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

महात्मा सूरदास और सन्त तुलसीदास की भक्ति-पद्धतियों में अ
समझने के हेतु पहले तुलसीदास जी की भक्ति-पद्धति का संक्षिप्त परि
प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। तुलसी 'नवधा भक्ति' स्वीकार करते हैं।

नवधा भक्ति

नवधा भक्ति का क्रम इस प्रकार से है—

१. सर्व प्रथम ब्राह्मणों के चरणों में प्रीति उत्पन्न होगी।
२. वर्णाश्रम-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होगी।

३. मन में वैराग्य उत्पन्न होगा।

४. तब आराध्य के प्रति अनुराग उत्पन्न होगा।

५. तब नवधा-भक्ति में मन लगेगा।

६. संत, गुरु, पिता-माता, बन्धु, पति आदि सबकी सेवा करने की इच्छा मन में जाग जायगी।

७. ब्रह्म के गुण गाते-गाते शरीर पुलकित, गिरा गदगद व नेत्र अश्रुमय हो जाया करेंगे।

८. काम, क्रोध, मोहादि नष्ट हो जायेंगे।

ब्रह्म के प्रति निष्काम रति को ही भक्ति कहते है। तुलसी के लिए भक्ति अनुपम है। वह सुख का मूल है तथा संतो की अनुकूलता होने पर ही वह प्राप्त होती है। उनकी दृष्टि में समस्त ज्ञान, विज्ञान और योग का फल भक्ति है। ज्ञानियों के लिए ज्ञान का फल मुक्ति होता है और भक्तो के लिए भक्ति। भक्त ज्ञान और वैराग्य द्वारा भक्ति की याचना करते हैं क्योकि उनकी दृष्टि में भक्ति के समक्ष मुक्ति की इच्छा करना लोभ मात्र ही है। भला ईश्वर के सान्निध्य से अधिक आकर्षक वस्तु और क्या हो सकती है ?

महात्मा सूरदास भी नवधा-भक्ति मे ही विश्वास करने वाले भक्त हैं, किन्तु दोनों की भक्ति-पद्धति मे पर्याप्त अन्तर है। महात्मा तुलसीदास भक्ति के लिए ज्ञान और वैराग्य को आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में सारे शास्त्रों का बार बार अनुशीलन करने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत सूरदास जी केवल 'माहात्म्य ज्ञान' को ही आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन भी नहीं है। तुलसी की दृष्टि में ज्ञान का तात्पर्य है जगत् को मिथ्या समझना। सूरदास जी की दृष्टि में जगत मिथ्या नहीं है। तुलसी ज्ञान, विज्ञान और योग आदि को भक्ति के लिए अनिवार्य मानते हैं, किन्तु सूर की दृष्टि मे यदि कुछ अनिवार्य है तो वह है भगवत्-अनुग्रह। हाँ, वैराग्य को ये दोनों ही महात्मा स्वीकार करते हैं।

भक्ति की महत्ता

तुलसी ने ज्ञान पर जो इतना अधिक बल दिया है उसका कारण है उनके ज्ञान की विशेषता। वे जगत को 'मायामय' अथवा मिथ्या या भ्रम ही मानते हैं। भ्रम के लिए ज्ञान की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। तुलसी ने जो उत्तरकाण्ड में अपनी भक्ति-पद्धति का वर्णन किया है, वह इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देगा—

> "ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
> सो मायावश भयउ गोसाईं। बंधेउ कीट मरकट की नाईं॥
> जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई॥
> तबतें जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥"

जीव

जीव मूल रूप में ब्रह्म का ही अंश है। वह हरि लीला की इच्छा अथवा हरि-प्रेरणा से माया के वश में हो गया है। जगत् के साथ उसका संबंध है, उससे मुक्ति पाना बड़ा कठिन है। यह कार्य ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

माया तथा जगत्

महात्मा तुलसीदास ने माया तथा जगत् का वर्णन शंकर की पद्धति पर ही किया है, किन्तु उन्होंने उसे ब्रह्म के अधीन दिखा कर उन्हीं के संकेत पर चलने वाली बना दिया है। अतः माया स्वतंत्र नहीं है। स्वतंत्र तो हरि की इच्छा है जिसके अनुसार जीव के आगे से माया का परदा हटा दिया जाता है। जब तक माया का परदा नहीं उठता, तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। वह माया ही सारे जीवों को नाच नचाती रहती है।

सूरदास जी के यहाँ तुलसी के इस 'मायावाद' को कोई स्थान नहीं है। वे शुद्ध द्वैतवादी हैं। उनके अनुसार माया ब्रह्म के साथ सगुण एवं शक्ति

है जो बन्धन और मोक्ष दोनों कार्य करती है। तुलसी के यहाँ माया एक रहस्यमय पदार्थ है। शंकर के सदृश उसकी ब्रह्म के साथ की स्थिति अस्पष्ट है। कहीं-कहीं अन्य भक्तों की भाँति उन्होंने उसे ब्रह्म की शक्ति मान लिया है तथा सीता-जानकी आदि के रूप में चित्रित किया है।

वास्तव में 'जगत् के सम्बन्ध में जीव की भ्रान्ति का नाश' ही तुलसी के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या है। इसके लिए वे भक्ति को ही अधिक समर्थ समझते हैं। यद्यपि ज्ञान और योग से भी भव-भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तथापि ज्ञान-मार्ग भक्ति-मार्ग के सदृश सरल मार्ग नहीं है। वह तो कृपाण की धार के समान कठिन है। इसके विपरीत भक्ति-मार्ग सरल है तथा हरि-कृपा पर आधारित है। भक्ति नारी है तथा माया भी नारी है। माया तो प्रभु की दासी कहलाती और भक्ति को उनकी पटरानी। अतः माया का वश भक्ति पर नहीं चल सकता।

'मोहि न नारि नारि के रूपा।'

के अनुसार नारी नारी पर मोहित भी नहीं हो सकती। जो मुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती, वह भक्ति से भी प्राप्त हो सकती है। अतः ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही श्रेष्ठ है क्योंकि यह इससे सुगम है। भक्ति की प्राप्ति में ज्ञान तथा योग की सहायता अपेक्षित है। अन्तर रूपी तृष्णा को श्रद्धा रूपी गाय चरती है। श्रद्धा-रूपी गाय से जो धर्म रूपी दूध उत्पन्न होता है उससे ही वैराग्य रूपी नवनीत निकलता है जिससे ज्ञान-रूपी घृत निकलता है। बुद्धि ज्ञान रूपी घृत शुद्ध करती है और तब चित्त रूपी दीपक में उस विज्ञान रूपी घृत को भरती है और त्रिगुणों की बाती उसमें डाली जाती है। इस दीपक के प्रकाश द्वारा मद-मोहादि-तमस नष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में इस बात का तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान से सभी भ्रम नष्ट हो जाते हैं। 'सोऽहमस्मि' की वृत्ति का जागरण हो जाता है तथा भव की भ्रान्ति पूर्णतया नष्ट हो जाती है। इस सबका अर्थ यह हुआ कि जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि हम ब्रह्म हैं तथा जड़

जगत भ्रम है तो हम मुक्त हो जाते हैं और भगवान के लिए हमारे हृदय मे
निर्मल और निष्काम प्रेम उत्पन्न हो जाता है जो भक्ति कहलाता है।

उपर्युक्त विवरण मे स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति को, संयुक्त विरति
विवेक, की संज्ञा दी जा सकती है। सूर ज्ञान-विज्ञान तथा योगादि का परि
हास करते हैं और तुलसी इनका सर्वत्र आदर करते दीखते हैं। सूर ने भ्रमर
गीत' मे ज्ञान और योग का स्पष्टत. विरोध किया है। इसके विपरीत तुल
ने शंकर के ज्ञान तथा सन्यासियों के वैराग्य को 'कृष्ण-गीतावली' में भक्ति
के लिए अनिवार्य माना है।

भक्ति-पद्धति का भेद

इसके अतिरिक्त सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति में एक अन्तर और
है। तुलसी सेवक-सेव्य-भाव को आदर्श मानते हैं। भगवान् के साथ इ
अधिक कोमल सम्बन्धों की स्थापना तुलसी को प्रिय नहीं है। उन्होंने
स्पष्ट कहा है—

"का बरनौं छवि आजु की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लेउ हाथ॥"

सूर का भक्ति-मार्ग इनसे अधिक कोमल है। उनमें प्रत्येक प्रकार
चित्तवृत्ति द्वारा ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न दिखाई देता है। मर्यादावादी तु
मानवीय दुर्बलता से अधिक लाभ उठाना नहीं चाहते। उनका तो स्पष्ट
है कि यदि ईश्वर-विषयक प्रेम भी मर्यादा का उल्लंघन करता है तो वह वि
ही उत्पन्न करेगा।

सूर का भक्ति-पथ अधिक मनोरम तथा मनोवैज्ञानिक है। वे दा
आसक्ति, स्वकीया, परकीया तथा सखा भाव पर तुलसी से अधिक ब
हैं। तुलसी के आदर्श भक्त हैं—हनुमान, भरत विभीषण आदि। शबरी
निषाद तो उनके दीन-हीन भक्त हैं। वे सब अपने को राम का सेव

मानते हैं, किन्तु सूर के सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं—गोपीजन। अतः तुलसी की भक्ति सैद्धान्तिक अधिक है और सूरदास की भक्ति में गुह्यता अधिक दिखाई देती है। तुलसी भक्ति में लोक और वेद के बन्धनों को स्वीकार करते हैं, किन्तु सूर की भक्ति में अनुभूति की प्रधानता है। वे माधुर्य और सरलता लाने के उद्देश्य से लोक और वेद के बन्धन को स्वीकार नहीं करते। उनकी भक्ति में सो सब से बड़ी शर्त ही प्रेम है। तुलसी की भक्ति तो ऐसी है कि ईश्वर म॰ प्राप्त हो जाय तथा साथ ही हिन्दू आदर्शों के आधार पर रह कर समाज में भी पुनः प्रत्येक वर्ग अपना स्थान चुन ले। इतना ही नहीं, प्रत्येक वर्ग अपना अपना कार्य करते हुए वेद, शास्त्र, तथा ब्राह्मण की उच्चता को स्वीकार करते हुए ईश्वर से प्रेम निभाता चले। ठीक इसके विपरीत सूरदास जी प्रेम ही में तल्लीन होकर रहना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में प्रेम से ही लोक व्यवस्था बन जायगी तथा परलोक भी प्राप्त हो जायगा। अतः सूरदास जी के मतानुसार प्रेम को छोड़कर अन्य झंझटों में नहीं फंसना चाहिये।

आसक्तियाँ

नारदजी के अनुसार आसक्तियों के ग्यारह प्रकार हैं—

१. गुण महात्म्यासक्ति
२. रूपासक्ति
३. पूजासक्ति
४. स्मरणासक्ति
५. दास्यासक्ति
६. सख्यासक्ति
७. वात्सल्यासक्ति
८. कान्तासक्ति
९. आत्मनिवेदनासक्ति
१०. तन्मयासक्ति
११. परम विरहासक्ति

इन आसक्तियों की दृष्टि से इन दोनों महात्माओं की यदि तुलना की जाय तो कहना पड़ेगा कि तुलसी 'दास्यासक्ति' को अधिक महत्व देते हैं तथा 'सूर' वात्सल्य, सख्य, कान्ता तथा परम विरहासक्ति को अधिक महत्वशाली समझते हैं। वैसे अन्य आसक्तियों के भी दोनों ही कवियों में उदाहरण मिल सकते है।

भक्ति-भेद

भक्ति को दो भागों मे बाँटा जा सकता है —

१. वैधी भक्ति

२. रागात्मिका भक्ति।

प्रत्येक सम्प्रदाय भक्ति के इन दोनों रूपो को मानता है। तुलसीदास वैधी भक्ति पर सूरदास से अधिक बल देते दिखाई देते हैं, यद्यपि वे रागात्मिक भक्ति को भी पर्याप्त महत्व देते हैं। ठीक इसके विपरीत सूरदास की दृष्टि में भावात्मक भक्ति ही श्रेष्ठ है, यद्यपि वैधी भक्ति को भी वे क्रियात्मक सेवा-मार्ग के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। तुलसी प्रत्येक हिन्दू-विश्वास के प्रति अपना आदर प्रदर्शित करते हैं किन्तु सूर ऐसा नही करते।

अतः सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति में मुख्य अन्तर निम्नांकित हैं—

१. तुलसी जगत को मिथ्या मानते हैं जब कि सूर उसे भगवान् का ही एक रूप मानते हैं।

२. तुलसी तथा सूर दोनों यद्यपि निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म में विश्वास रखते हैं तथा दोनों के इष्टदेव निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों में हैं, तथापि तुलसी ने शंकराचार्य की पद्धति को अपनाया है जब कि सूर ने इस पद्धति को बिल्कुल उलट दिया है।

३ नवधा-भक्ति में दोनों विश्वास रखते हैं, किन्तु तुलसी 'राग' में 'सेवक-सेव्य राग' को ही अधिक महत्व देते हैं।

४. सूर की भक्ति अधिक आकर्षक है। तुलसी में सूर जैसी रमणीयता तथा मनोहरता नहीं दिखाई देती। उनके राम अधिक शिष्ट, अधिक चरित्रवान तथा अधिक कर्त्तव्य-परायण हैं और इसीलिए भक्त के निकट आ जाते हैं। अतः रागात्मिक दृष्टि से सूर का मार्ग अधिक श्रेष्ठ है जबकि प्रत्यक्ष कर्त्तव्य परायणता तथा मर्यादावाद की दृष्टि से तुलसी का स्थान ऊँचा है।

तुलसी और सूर की भक्ति-पद्धति का अन्तर स्पष्ट करने के लिए तुलसी के सेव्य-सेवक भाव की विशेषताओं पर प्रकाश डालना परम उपयोगी होगा। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने अपने 'तुलसी-दर्शन' नामक ग्रन्थ मे निम्नांकित विशेषताओं पर प्रकाश डाला है—

१. भक्त के मन में निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की ओर रुचि अधिक है।

२. जो वस्तु आराध्य के काम आये वह धन्य है और जो आराध्य के काम न आये वह व्यर्थ है।

३. आराध्य को सुखी देखना ही भक्त की एकमात्र इच्छा है।

४. आराध्य के दर्शन पाकर ही भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। सान्निध्य बना रहे तो क्या कहना। यदि यह सान्निध्य अनन्त काल के समय तक बना रहे तो और भी सुन्दर।

५. यदि आराध्य के चरण-कमल, वरद्-हस्त, प्रेमपूर्ण भाव आदि मिल जाएँ तब तो भक्त कृतकृत्य हो जाता है।

६. भक्ति के आनन्द के लिए जीव ज्ञानियों की भाँति अपना व्यक्तित्व-नाश नहीं चाहता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी के सेवा-मार्ग मे दीनता, लघुता तथा हीनता की भावना ही अधिक मात्रा में है। सूर में यह भावना इतनी मात्रा में नहीं मिल सकती।

तुलसी स्मार्त-भक्त थे। स्मृतियों में स्वीकृत सूर्य, गणेश आदि पांच देवताओं की उपासना तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में विस्तारपूर्वक की है। ठीक इसके विपरीत सूर के यहाँ 'कृष्ण' के अतिरिक्त अन्य किसी देवी-देवता की पूजा का विधान नहीं है। तुलसी अनेक ग्रंथों में वर्णित भक्ति के उपायों को मानते हैं जबकि सूर केवल भागवत को ही अपनाते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसी की भक्ति-पद्धति शंकराचार्य के मायावादी दर्शन पर आधारित है, किन्तु वे भक्ति तथा माया को भगवान् के अधीन कर देते हैं। भक्ति और मुक्ति में वे शंकराचार्य के विपरीत मुक्ति के समक्ष भक्ति को ही अधिक महत्त्व देते हैं। यदि हम तुलसीदास जी को स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य सूत्र-ग्रंथों में वर्णित सनातन धर्म का प्रचारक कहें तो सूरदास जी को सनातन धर्म का सुधारक तथा उसके युगानुरूप धर्म का प्रचारक कहा जायगा। दोनों की भक्ति-पद्धतियों में यही अन्तर है।

अतः यह प्रश्नगत उक्ति कि तुलसी मर्यादावादी भक्ति पथ का अनुकरण कर समाज में कर्तव्य परायणता का प्रचार करने में अधिक सफल हुए हैं तथा सूरदास की भक्ति-पद्धति ने सभी वर्गों में प्रेममय वातावरण उत्पन्न करने में अधिक सहायता दी है, अक्षरशः सत्य है। वास्तव में दोनों की भक्ति पद्धतियों तथा उनके परिणामों में यही अन्तर है।

प्रश्न १०—''आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।'' पं० शुक्ल के इस कथन पर प्रकाश डालते हुए 'अष्टछाप' में सूर का स्थान निश्चित कीजिये।

महात्मा सूरदास जी के गुरु श्री वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि मार्ग के प्रचार का सर्वप्रथम प्रयत्न किया था। उन्होंने गोवर्धन पर्वत पर 'श्रीनाथ जी'

नामक मन्दिर की स्थापना भी इसीलिए की थी। इस मन्दिर में विधिवत् पूजा, भजन, कीर्तन, भोग आदि की व्यवस्था करने के लिए पुष्टिमार्ग में दीक्षित कुछ उनके शिष्य रहते थे। सूरदास जी भी उनके एक ऐसे ही शिष्य थे। इनके अतिरिक्त उनके कुछ इसी प्रकार के अन्य शिष्य भी थे जो सूरदास जी के समान ही काव्य-रचना करने वाले, कीर्तन करने वाले तथा मधुर कण्ठ से पद गाने वाले थे। इन शिष्यों में सूरदास के अतिरिक्त कुंभनदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास अधिक प्रसिद्ध थे। श्री आचार्य जी के पश्चात् उनके पुत्र श्री गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उक्त परम्परा को बनाये रखने का प्रयास किया। इनके समय में भी पुष्टिमार्ग के अनुयायी अन्य भक्त अपने मधुर पदों को गा-गाकर श्रीनाथ जी के इस मन्दिर में कीर्तन किया करते थे। इन में विट्ठलनाथ जी के चार प्रिय शिष्य भी थे जिनके नाम हैं—गोविंदस्वामी, नंददास, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास। श्री विट्ठलनाथ जी ने चार तो अपने पिता जी के शिष्यों को लेकर तथा चार इन अपने प्रिय शिष्यों को लेकर इन आठ अति प्रसिद्ध भक्त-कवियों का एक समुदाय बनाया जो हिन्दी-साहित्य में 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन आठों भक्त कवियों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. सूरदास
२. कुंभनदास
३. परमानन्ददास
४. कृष्णदास
५. गोविंदस्वामी
६. नन्ददास
७. छीतस्वामी
८. चतुर्भुजदास।

'अष्टछाप' के इन आठ भक्त कवियों ने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुसार कृष्ण भक्ति में तन्मय होकर अत्यन्त सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की हैं।

इन आठों कवियों ने ब्रजभाषा को ही अपनी कविता का माध्यम
सभी के विषय भी लगभग एक से ही रहे हैं। सभी भगवान्
आत्म-विभोर हुए हैं और स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की है।
काव्य श्रेणी को अपनाया है। सभी उच्च कोटि के भक्त तो थे
ऊँची श्रेणी के गायक भी थे। गोविंदस्वामी के विषय में तो
है कि वे इतने अच्छे गायक थे कि संगीत विद्या का सम्राट्
तानसेन छुप-छिपकर इनके गीत सुना करता था। नंददास का
सर्व प्रसिद्ध है ही। महात्मा सूरदास का तो कहना ही क्या
कई नवीन राग-रागनियों तक की सृष्टि कर डाली।

ब्रह्म

जहाँ तक इन आठ कवियों की कविता के विषय की बात
ही उपयुक्त है कि इन सभी ने पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन ही
है। पुष्टिमार्ग के अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। उनका ब्रह्म
आनन्द तीनों स्वरूप वाला है। इसी के गुणों का आविर्भाव
जीव और प्रकृति में होता रहता है, अतः जीव और प्रकृति
जीव में सत् और चित् का आविर्भाव होना है और आनन्द
जाता है तथा प्रकृति में केवल सत् का ही आविर्भाव होता है
आनन्द दोनों गुण तिरोभूत रहते हैं। ईश्वर निर्गुण, निरा
अन्तर्यामी है। श्री आचार्यजी ने उसे पुरुषेश्वर पुरुषोत्तम
दृष्टि में वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है। वह अपनी
रूप में अवतार लेता है। श्रीकृष्ण एक ऐसे ही परब्रह्म हैं।
सुख देने के लिए इस पृथ्वी पर अवतार ले लिया है। उनकी
उनकी प्रेयसी है जिसके साथ वे विहार करते हैं।

श्री आचार्य जी के ईश्वर विषयक इन विचारों से
कवि पूर्णतया प्रभावित हुए हैं। उनके पदों में ईश्वर विष
...र पाये जाते हैं। पहले सूर का एक ऐसा पद देखिये-

"अविगत आदि अनन्त अनुपम अलख पुरुष अविनासी ।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक बिलासी ।
जहँ वृन्दावन आदि अजिर जहाँ कुंजलता विस्तार ।
तहँ विहरत प्रिय प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार ।
जहँ गोवर्धन पर्वत मनिमय सघन कंदरा सार ।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निस दिन करत विहार ।
खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार ।
अपने आप करि प्रकट कियो है हरी-पुरुष अवतार ।"

शेष सात कवियों में सभी के उदाहरण विस्तार से प्रस्तुत न कर हम यहाँ परमानन्ददास जी का ही एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"ब्रह्म महादेव इन्द्रादिक जाके आज्ञाकारी ।
सुरतरु कामधेनु चिन्तामणि वरुन कुबेर भंडारी ।
× × ×
जन्म कर्म अवतार रूप गुन नारदादि मुनि गावैं
परमानन्ददास श्रीपति अधम-भले बिसरावैं ।"

भक्ति-भावना

अष्टछाप के इन कवियों की सर्वाधिक वर्णनीय विशेषता है उनकी भक्ति भावना । ये सभी कवि पुष्टिमार्गी भक्त थे, अतः पुष्टि का अर्थ समझ लेना उपयुक्त होगा । ईश्वर के अनुग्रह को पुष्टि कहते हैं । अनुग्रह की मात्रा के अनुसार पुष्टि चार प्रकार की होती है—प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि तथा शुद्धपुष्टि । शुद्धपुष्टि प्राप्त होने वाले भक्त पर भगवान् का विशेष अनुग्रह होता है । इस प्रकार का भक्त अपना सब कुछ उस पर बलिदान कर देता है । गोपियाँ इसका उदाहरण हैं । भक्ति की व्याख्या करते हुए श्री आचार्य जी ने कहा है कि भगवान् में माहात्म्य ज्ञान-पूर्वक

सुदृढ़ तथा मनत स्नेह ही भक्ति है। उन्होंने भक्ति के लिए प्रेम को ही मुख्य बतलाया है। अष्टछाप के सभी कवियों ने अपनी भक्ति-भावना को प्रगट करने के लिए प्रेम का ही आश्रय लिया है। इन्होंने अपने प्रेम का आदर्श *गोपियों के माध्यम द्वारा भली-भाँति व्यक्त किया है।* निम्नलिखित उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है—

सूरदास --"जिन वह सुधा पान मुख कीन्हों ते कैसे कटु लेखत।
स्यों ए नैन भये गर्वीले प्रब काहे हम लेखत।"

× × × ×

नन्ददास –"जो न देहु अधरामृत तो सुनिहो मोहन हरि।
करिहैं यह तन भसम विरह पावक में गिरि परि।
तब पिय पदवी पाइ बहुरि धरिहैं सुन्दर अंग।
पीवहिंगी अधरामृत पुनि संग ही संग।"

छीतस्वामी –"मेरे नैनन रहे बान परो।
गिरधर लाल मुखारविन्द छवि छिन छिन पीवत खरौं।'

परमानन्ददास—"मदनगोपाल के रंगराती।
गिरि-गिरि परत सभार न तन की अधर सुधारस प्याती।"

कृष्णदास —"हरि मुख देखे ही जीजे।
सुनहु सुन्दरी नैन सुभग पुट स्याम सुधा पीजे।"

चतुर्भुजदास—"शोभा सिन्धु स्याम अंग छवि के उठत तरंग।
लाजत कोटिक अनंग विश्व को मन हरन।
चतुर्भुज प्रभु श्री गिरधारी को स्वरूप सुधा।
पान कीजिये रहिये सदा ही सरन॥"

नवधा भक्ति

'अष्टछाप' के इन कवियों ने भगवान की भक्ति प्राप्त करने के लिए नवधा-भक्ति का आधार लिया है। इस भक्ति के नौ आधार होते हैं—श्रवण

कीर्तन, स्मरण, अर्चन, पादसेवन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। इन सभी कवियों के काव्यों में नवधा-भक्ति सम्बन्धी पद प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन सभी कवियों ने भगवान् के विविध अवतारों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। सूर का ही उदाहरण लीजिये। उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त सभी अवतारों की कथा का गान किया है और राम-कथा का तो अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है, किन्तु एक बात अवश्य है। इन सभी कवियों ने जो अनन्यता कृष्ण के प्रति प्रदर्शित की है वह किसी और के प्रति नहीं। वास्तव में अनन्यता का भाव भक्ति में बहुत महत्त्व रखता है। इसके बिना न तो भक्त तन्मय होकर भगवत-भजन में ही लग सकता है और न आत्म-समर्पण ही कर सकता है। यह अनन्य भाव 'अष्टछाप' के इन सभी कवियों में दृष्टिगत होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

परमानन्ददास—"बहुत देवी बहुत-से देवा कौन-कौन को भलो मनाऊँ।
हौं आधीन स्यामसुन्दर के कमल-चरन पावन जस गाऊँ।"

चतुर्भुजदास—'चतुर्भुजदास अटल भए उर घट परसो गिरिधरलाल।"

सूरदास—"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।'
"जैसे उड़ि जहाज को पछी फिर जहाज पर आवै।"

नन्ददास—' प्रेम एक इक चित्त सों एकहि संग समाइ।
गयो को सौदा नहीं जन-मन हाथ बिकाइ॥"

अब प्रश्न यह है कि 'अष्टछाप' के इन कवियों में महात्मा सूरदास को कौनसा स्थान दिया जाय? श्री गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने इन्हें 'पुष्टि-मार्ग का जहाज' बताया है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', जो इस विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है, इस विषय में निम्नलिखित मत प्रकट करता है—

"याते-वाणी तो सब अष्ट छाप की समान है और ये दोऊ परमानन्द स्वामी और सूरदास जी सागर भये।"

सुदृढ़ तथा सतत स्नेह ही भक्ति है। उन्होंने भक्ति के लिए प्रेम को ही मुख्य बतलाया है। अष्टछाप के सभी कवियों ने अपनी भक्ति-भावना को प्रकट करने के लिए प्रेम का ही आश्रय लिया है। इन्होंने अपने प्रेम का आदर्श गोपियों के माध्यम द्वारा भली-भाँति व्यक्त किया है। निम्नलिखित उदाहरणों में इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है—

सूरदास -- "जिन यह सुधा पान मुख कीन्हों ते कैसे कटु देखत।
स्यों ए अंग भये गर्यालि अब काहे हम लेखत।"

× × × ×

नन्ददास -- "जो न देहु अधरामृत तो सुनिहौ मोहन हरि।
करिहैं यह तन भस्म विरह पावक में गिरि परि।
तब पिय पदवी पाइ बहुरि धरिहैं सुन्दर अंग।
पीवहिंगी अधरामृत पुनि संग ही संग।"

छीतस्वामी -- "मेरे अंखन रहे बान परी।
गिरधर लाल मुखारविन्द छवि छिन छिन पीवत खरी।"

परमानन्ददास -- "मदनगोपाल के रंगराती।
गिरि-गिरि परत सभार न तन की अधर सुधारस माती।"

कृष्णदास -- "हरि मुख देखे ही जीजे।
सुनहु सुन्दरी अंग सुभग पुट श्याम सुधा पीजे।"

चतुर्भुजदास -- शोभा सिन्धु श्याम अंग छवि के उठत तरंग।
लाजत कोटिक अनंग विश्व को मन हरन।
चतुर्भुज प्रभु श्री गिरधारी को स्वरूप सुधा।
पान कीजिये रहिये सदा ही सरन।।"

नवधा भक्ति

'अष्टछाप' के इन कवियों ने भगवान की भक्ति प्राप्त करने के लिए नवधा-भक्ति का अवलम्ब लिया है। इस भक्ति के नौ आधार होते हैं—श्रवण

कीर्तन, स्मरण, अर्चन, पादसेवन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। इन सभी कवियों के काव्यों में नवधा-भक्ति सम्बन्धी पद प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन सभी कवियों ने भगवान् के विविध अवतारों के प्रति अपनी आस्था प्रगट की है। सूर का ही उदाहरण लीजिये। उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त सभी अवतारों की कथा का गान किया है और राम-कथा का तो अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है, किन्तु एक बात अवश्य है। इन सभी कवियों ने जो अनन्यता कृष्ण के प्रति प्रदर्शित की है वह किसी और के प्रति नहीं। वास्तव में अनन्यता का भाव भक्ति में बहुत महत्व रखता है। इसके बिना न तो भक्त तन्मय होकर भगवत-भजन में ही लग सकता है और न आत्म-समर्पण ही कर सकता है। यह अनन्य भाव 'अष्टछाप' के इन सभी कवियों में दृष्टिगत होता है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

परमानन्ददास—"बहुत देवी बहुत-से देवा कौन-कौन को भलो मनाऊँ।
हौं आधीन स्यामसुन्दर के जनम करम पावन जस गाऊँ।"

चतुर्भुजदास—'चतुर्भुजदास अटल भए उर घट परसो गिरिधरलाल।'

सूरदास—"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।'
"जैसे उड़ि जहाज को पछी फिर जहाज पर पावै।"

नन्ददास—'प्रेम एक इक चित्त सों एकहि संग समाइ।
मधो को सौदा नहीं जन-मन हाथ बिकाइ॥"

अब प्रश्न यह है कि 'अष्टछाप' के इन कवियों में महात्मा सूरदास को कौनसा स्थान दिया जाय? श्री गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने इन्हें 'पुष्टि-मार्ग का जहाज' बताया है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', जो इस विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है, इस विषय में निम्नलिखित मत प्रकट करता है—

"तातें-वाणी तो सब अष्ट कारण की समान है और ये दोऊ परमानन्द स्वामी और सूरदास जी सागर भये।"

परमानन्ददास जी का बाल-वर्णन का एक पद देखिये—

> "माई मीठे हरि के बोलना ।
> पांय पंजनियां रुनझुन बाजें आंगन आंगन डोलना ।
> कज्जर तिलक कंठ कठुला मनि पीताम्बर को चोलना ।
> परमानन्ददास को ठाकुर गोपी झुलावत मो ललना ।"

वास्तव में परमानन्ददास जी ने बाल-वर्णन अत्यन्त सरस एवं सुन्दर रूप में किया है, किन्तु सूर के बाल-वर्णन की सी मनोवैज्ञानिकता, सरसता, स्वाभाविकता आदि इनके पदों में उतनी मात्रा में नहीं मिल सकती। वास्तव में सूर का सा बाल-वर्णन परमानन्ददास तो क्या विश्व का कोई भी कवि नहीं कर सका।

बाल स्वभाव और विविध सौन्दर्य के उपकरणों के वर्णनों के साथ साथ परमानन्ददास जी ने शृंगार रस के भी अत्यन्त सरस एवं सुन्दर चित्र उतारे हैं। सूर की भांति माधुर्य-भाव ही इनकी रचनाओं में प्रधान है। देखिये, इनकी गोपी भी सूर के समान ही कह रही है—

> 'जब ते प्रीति श्याम सों कीनी ।
> ता दिन ते मेरे इन नैननि ने कबहुँ नींद न लीन्हीं ।'

शृंगार-वर्णन में भी परमानन्ददास जी सूर की सी सहृदयता, स्वाभाविकता तथा उच्च कवित्व शक्ति को नहीं पहुँच सके हैं।

सूरदास और नन्ददास

अब तनिक नन्ददास जी से भी सूरदास जी की तुलना करलें। जब काव्य-कला की दृष्टि से नन्ददास जी का स्थान परमानन्ददास जी से पीछे माना जाता है और सूर का स्थान परमानन्ददास जी से ऊपर अभी हमने कहा ही है तो फिर नन्ददास जी का प्रश्न ही क्या? किन्तु नहीं एक बात अवश्य है। भाषा और शब्द-चयन की दृष्टि से नन्ददास जी का स्थान 'अष्टछाप' के सभी

कवियों में किसी भी प्रकार छोटा नहीं है। कहें तो कह सकते हैं कि इस दृष्टि से इनका स्थान सबसे ऊँचा है। **'नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया'** नामक उक्ति किसी ने वैसे ही नहीं बना दी है। यह उक्ति इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि भाषा को जितना चित्रमय इन्होंने बना दिया है उतना अष्टछाप के किसी कवि ने नहीं। इनकी सी चित्रमय पदावली इन आठों कवियों में किसी की भी न मिलेगी। 'जड़ने' तथा 'गढ़ने' में जो अन्तर है वह नन्ददास जी तथा इन कवियों की शैली में समझना चाहिये।

सूरदास और नन्ददास दोनों ने ही 'भ्रमरगीत' रचे हैं। नन्ददास जी के 'भ्रमरगीत' में बुद्धि का चमत्कार, प्रसंगों की पुनरुक्ति तथा अद्भुत तार्किकता का ही प्राधान्य मिलेगा। उसमें सूर जैसी हृदय को स्पर्श करने वाली सरस, सुन्दर तथा स्वाभाविक उक्तियों का अभाव ही है। इस प्रकार निश्चित रूप से सूर का स्थान नन्ददास जी से बहुत आगे है। परमानन्ददास जी से इनकी तुलना ऊपर की जा चुकी है। अन्य कोई कवि इनकी समता में टिक खड़ा ही क्या हो सकता है? काव्य के आभ्यन्तर तथा बाह्य पक्ष दोनों की दृष्टि से सूर का स्थान इन अष्टछाप के कवियों में सर्वोच्च ही है।

अतः शुक्ल जी का यह मत कि 'आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणायें श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी' सर्वथा मान्य है।

प्रश्न ३१—गीति काव्य का विकास दिखाते हुए उसमें सूर का स्थान निर्धारित कीजिये।

वैसे तो गीत गाना मानव-स्वभाव है, किन्तु भारतभूमि विशेष रूप से प्रसिद्ध है कि इसकी सार्वजनिक नृत्यकला 'मृदंगम्' विशेष रूप से गान विद्या के लिए प्रसिद्ध रही है। भारत की प्राचीनतम पुस्तक वेद है। इनमें भी गीति-तत्त्व देखने को मिल जाते हैं।

गीति-काव्य का विकास

सामवेद के गीत गीति-काव्य के सर्वप्रथम उदाहरण है। इस वेद के मंत्र इसीलिए सामगान कह कर पुकारे जाते है, क्योकि इनमे गेय-तत्व विद्यमान है। अतः सामवेद गीति-काव्य का प्रथम उदाहरण कहा जा सकता है। यह इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण है कि साहित्य के क्षेत्र मे गीत रचने की प्रवृति प्रारम्भ से ही रही है। इतना ही नही यह प्रवृति आज तक भी अक्षुण्ण गति से चलती चली आ रही है और आशा है कि भविष्य मे भी चलती रहेगी।

जयदेव

सामवेद के पश्चात् लौकिक संस्कृत काव्य मे सर्वप्रथम सबसे अधिक लोकप्रिय गीतिकार जयदेव हुए जिनका 'गीत गोविंद' गीति काव्य का एक अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य है। गीति-काव्यकारों के लिए जयदेव का 'गीत गोविंद' एक आदर्श ही बन गया। इसमे जयदेव ने गीतो के द्वारा ईश्वर की स्तुति की है, किन्तु अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने के लिए उन्होने लौकिक प्रेम को माध्यम बनाया है। उसमे लौकिक प्रेम इतने सरस एवं स्वाभाविक रूप मे दर्शित है कि कुछ विद्वान् इस काव्य पर अश्लीलता का दोषारोपण करने लगे हैं। वास्तव मे लौकिक प्रेम की जो स्वच्छन्द एव सरस धारा इस काव्य मे बहाई गई है, उसे देखकर उन पर दोषारोपण करना सहज एव स्वाभाविक हो ही जाता है। वास्तविकता इसके विपरीत है। उनका मुख्य उद्देश्य था—ईश्वर-स्तुति जो अत्यन्त पावन था, अलौकिक था। इन विद्वानो के शंका-समाधान के हेतु हम 'गीतगोविंद' का आरम्भ का ही एक श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

> "यदि हरि स्मरणे सरसं मनो
> यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
> मधुर-कोमल कान्त पदावली
> शृणु तदा जयदेव सरस्वती।"

ह सजीव हो उठा है। इतनी भाषा कोमल, मधुर एवं चित्रमय है कि द-चित्र नेत्रों के सम्मुख खड़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त संगीत संयोग स्वर्ण मे सुगन्धि उत्पन्न कर देता हैं। वस्तुतः इनकी भाव-मलता के साथ इनके शब्द-चयन का भी विशेष महत्व है। इनकी जैसी मधुरता जयदेव के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं दीख पड़ती। इनके पद इतने र होते थे कि श्री चैतन्य महाप्रभु उन्हें सुनते-सुनते तन्मय दशा मे विभोर जाते थे और अपनी सुध-बुध खो देते थे। अत. गीति-काव्य के इतिहास मे यापति का भी स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

ीर

गेयत्व की दृष्टि से कबीर के पद भी अपना एक विशेष महत्व रखते हैं। पदों का प्रचार विशेष रूप से साधु-संतों मे ही अधिक मात्रा में रहा। धु सन्त अधिक पढे लिखे न होते हुए भी इन पदों को एक दूसरे से सुनकर स्मरण करके सुन्दर लय के साथ गाया करते थे, किन्तु एक बात अवश्य इन संत कवियो के पद भक्त कवियों के पदो के समान लोकप्रिय न हो । इसका एक मात्र कारण यह था कि इनके भाव इतने उच्च तथा गहरे साधारण मनुष्य उनको नहीं समझ सकता अतः आनन्द भी नहीं ले । किन्तु जिन पदों मे हठयोग, समाधि, साधना, योगाभ्यास आदि न होकर कबीर आदि के हृदय की तीव्र अनुभूति व्यक्त है वह अत्यन्त तथा लोकप्रिय है। चाहे साधु और महात्माओं द्वारा ही सही, वे बड़ी ता और लय के साथ गाये जाते हैं। अत गीति-काव्य के इतिहास संत कवियों को यदि विशेष गौरव का स्थान प्राप्त नही है तो 'गौरव' वश्य ही दिया जाना चाहिये।

स

ीति-काव्य परम्परा मे जो स्थान नेत्रविहीन सूरदास को प्राप्त है वह

संभवतः ही किसी को हो। इसका आधार यहीं नहीं है कि 'सूर
गेय हैं। वे इसीलिए प्रमुख स्थान नहीं पा रहे हैं कि वे स्वय
गा-गाकर सुनाया करते थे, अथवा कीर्तन के समय अपने म
किया करते थे। गीति-काव्य की ओर उनकी कितनी रुचि
'सूरसागर' जैसे विशाल ग्रंथ के रचने में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो
गीति-काव्य का कितना ज्ञान था यह इस बात से स्पष्ट हो जाता
विविध राग-रागनियों का परिचय देकर पदों की रचना की है। इ
उन्होंने स्वयं नये रागों की भी सृष्टि की है।

सूरदास जी की गीति-काव्यकार के रूप में विशेषताओं
कराने से पूर्व यह जान लेना उपयुक्त एवं प्रासंगिक प्रतीत होता
गीति-काव्य किस श्रेणी का है ? उन्होंने गीति काव्य की ही रच
उसमें उन्हें कितनी सफलता मिली है ? जिस समय सूरदास जी
कर रहे थे उस समय संगीत-विद्या अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच
बैजू बावरा तथा तानसेन, जो इस विद्या के सम्राट कहे जाते हैं,
हुये थे। जनरुचि भी उस समय संगीत की ओर बहुत थी। सूर
अपने समय की इस हवा से अछूते कैसे रह सकते थे ? दूसरे, उन्हें
के मन्दिर में कीर्तन करने का कार्य मिला हुआ था। कीर्तन में उ
गाकर सुनाने होते थे। कीर्तन के लिए यह स्वाभाविक एवं आ
कि जो कुछ भी कहा जाये वह लय और ताल से युक्त होना चा
कीर्तन में कुछ आनन्द लिया जा सकता है। नेत्र-विहीन होना भी
समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि समस्त परिस्थितियों ने
काव्य रचने की प्रेरणा की।

सूरदास के पदों की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्य गीति-का
... सकती। ऐसी एक विशेषता तो यह है कि उन्होंने जिस

दृष्टि से उनकी 'विनय पत्रिका' एक श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इस काव्य-ग्रन्थ के पद अत्यन्त गेय हैं तथा अनेक प्रकार की राग-रागनियों में बंधे हुए हैं, किन्तु सूरदास जी के समान कोमल-कान्त-पदावली तथा सरसता इनके पदों में दिखाई नहीं देती। इनकी भाषा मे तत्सम शब्दो का बाहुल्य है जिसके कारण इनके पदों मे वह प्रवाह नही आ सका है जो सूर के पदो मे प्रत्येक स्थान पर दृष्टिगत होता है। साहित्यिक दृष्टि से तुलसी के पद सूर के पदों से अधिक श्रेष्ठ माने जायेंगे। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि साहित्यिक दृष्टि से तुलसी के पद चाहे कितने ही श्रेष्ठ हों, गेयात्मकता की दृष्टि से वे सूर के पदों से पीछे ही कहे जायेंगे।

मीरा

मीरा को भी संगीत का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने भी विभिन्न राग-रागनियों में सुन्दर गीतों की रचना की है। उनके पद श्रोताओं को मुग्ध कर लेते हैं। आज जहां हम रेडियो पर सूर, तुलसी, कबीर आदि के पद सुनते हैं, वहां मीरा के पदों का गान भी हमारे कानो में अवश्य पड़ता है। उनके पदो की मुख्य विशेषता है उनकी एकान्त भावमयता। उनके गीतों में सर्वत्र उनके व्यक्तित्व का स्फुरण दिखाई देता है। उन्होंने अपने गीतो में अपनी भावनाओं का प्रकाशन ही अधिकांश मे किया था। उन्होंने अपने गीतों मे अपने ही अन्तर के अनुभूतिपूर्ण मार्मिक चित्र उतारे हैं। उनके पदों में वास्तव में उनके ही हृदय की तड़प तथा विरह व्याकुलता ही मिलेगी। वस्तुतः उनके गीतों की प्रमुख विशेषता उनकी तीव्र एवं कोमल अनुभूति ही है जो स्त्री-सुलभ होने से और भी मार्मिक बन गई है। मीरा के पदों को सुनने वाले भाव-विमुग्ध हुए बिना नही रह सकते।

जहाँ तक कवित्व और काव्य-चमत्कार का प्रश्न है, वह तो इस प्रकार की अनुभूतिपूर्ण रचनाओं मे स्वतः ही स्वाभाविक रूप से आ जाता है। मीरा, तुलसी, विद्यापति, सूर आदि के समान उच्च रूप से शिक्षित नहीं थी। उन्हें काव्य-कला का इतना उत्कृष्ट ज्ञान नहीं था। अतः उनके पदों में इन

है। उन्होंने अपने पदों में विविध रसों की धारा बहाई है। शृंगार व वात्सल्य रस अधिक कोमल हैं तथा गीति-काव्य के लिए अधिक उपयुक्त अतः इन्हीं की धारा उन्होंने अधिक बहाई है।

यदि ध्यान से देखा जाय तो सूर के गीतों की विशेषता और प्रसिद्धि का श्रेय उनकी कोमल और सरस ब्रज भाषा को ही दिया जायगा। ब्रजभाषा स्वतः ही अपनी कोमलता और सरसता के लिए प्रसिद्ध है। सूर ने इस बात का और भी अधिक ध्यान रखा है। उन्होंने कठोर शब्दों का स्वयं ही बहिष्कार किया है तथा कोमल, सरल एवं कानों को सुख देने वाले शब्दों तथा वर्णों को ही विशेष स्थान दिया है।

बात यह है कि सूरदास जी उच्च कोटि के कवि ही नहीं थे, अपितु एक अच्छे गायक भी थे। सूर के काव्य में काव्य और संगीत का जो सुन्दर समन्वय दिखाई देता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी रचनायें जहाँ काव्य-कला की दृष्टि से उत्तम मानी जाती हैं वहाँ उनका संगीत तथा गेयत्व की दृष्टि से भी बड़ा मान है। उनके पद इतने अधिक सरस एवं संगीतमय हैं कि यदि इन्हें उनके मार्गदर्शक कवियों के पदों से सुन्दर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इनके पद कितने प्रभावोत्पादक हैं, यह इस दोहे से जाना जा सकता है—

'कियों सूर को सर लग्यो कियों सूर की पीर।
कियो सूर को पद लग्यो तन मन धुनत शरीर॥"

तुलसीदास

भक्तिकाल में गीति-काव्य परम्परा में महात्मा सूरदास के साथ महात्मा तुलसीदास का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। तुलसीदास जी ने पदों में रचना प्रस्तुत करके गीति-काव्य कला के ज्ञान का परिचय दिया है। इस

दृष्टि से उनकी 'विनय पत्रिका' एक श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इस काव्य-ग्रन्थ के पद अत्यन्त गेय हैं तथा अनेक प्रकार की राग-रागनियों में बंधे हुए हैं, किन्तु सूरदास जी के समान कोमल-कान्त-पदावली तथा सरसता इनके पदों में दिखाई नहीं देती। इनकी भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है जिसके कारण इनके पदों में वह प्रवाह नहीं आ सका है जो सूर के पदों में प्रत्येक स्थान पर दृष्टिगत होता है। साहित्यिक दृष्टि से तुलसी के पद सूर के पदों से अधिक श्रेष्ठ माने जायेंगे। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि साहित्यिक दृष्टि से तुलसी के पद चाहे कितने ही श्रेष्ठ हों, गेयात्मकता की दृष्टि से वे सूर के पदों से पीछे ही कहे जायेंगे।

मीरा

मीरा को भी संगीत का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने भी विभिन्न राग-रागनियों में सुन्दर गीतों की रचना की है। उनके पद श्रोताओं को मुग्ध कर लेते हैं। आज जहाँ हम रेडियो पर सूर, तुलसी, कबीर आदि के पद सुनते हैं, वहाँ मीरा के पदों का गान भी हमारे कानों में अवश्य पड़ता है। उनके पदों की मुख्य विशेषता है उनकी एकान्त भावमयता। उनके गीतों में सर्वत्र उनके व्यक्तित्व का स्फुरण दिखाई देता है। उन्होंने अपने गीतों में अपनी भावनाओं का प्रकाशन ही अधिकांश में किया था। उन्होंने अपने गीतों में अपने ही अन्तर के अनुभूतिपूर्ण मार्मिक चित्र उतारे हैं। उनके पदों में वास्तव में उनके ही हृदय की तड़प तथा विरह व्याकुलता ही मिलेगी। वस्तुतः उनके गीतों की प्रमुख विशेषता उनकी तीव्र एवं कोमल अनुभूति ही है जो स्त्री-सुलभ होने से और भी मार्मिक बन गई है। मीरा के पदों को सुनने वाले भाव-विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते।

जहाँ तक कवित्व और काव्य-चमत्कार का प्रश्न है, वह तो इस प्रकार की अनुभूतिपूर्ण रचनाओं में स्वतः ही स्वाभाविक रूप से आ जाता है। मीरा, तुलसी, विद्यापति, सूर आदि के समान उच्च रूप से शिक्षित नहीं थीं। उन्हें काव्य-कला का इतना उत्कृष्ट ज्ञान नहीं था। अतः उनके पदों में इन

कवियों जैसा पद लालित्य नहीं मिल सकता। वस्तुतः मीरा के गीत तो मीरा के ही गीत हैं। उनमें उनकी उस आन्तरिक सत्यानुभूति की स्पष्ट छाप दिखाई देती है जो गीति काव्य का प्राण है।

इस प्रकार सूर, तुलसी तथा मीरा के समय में गीति काव्य अत्याधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो गया था। इन सभी कवियों ने गीति-काव्य परम्परा को उत्कर्ष प्रदान करने में बड़ा योग दिया। फलतः गीति-काव्य परम्परा की अत्यधिक प्रसिद्धि हो गई और यह धारा निरन्तर रूप से आगे भी चलती रही।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में भी यह परम्परा अबाध गति से अग्रसर होती दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु जी के समय में देश-प्रेम सम्बन्धी राष्ट्रीय गीत गाये जाते दिखाई पड़ते हैं कुछ आगे चलकर राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के समय मे तो बहुत सुन्दर गीत रचने प्रारम्भ हो गये थे। उनके स्वयं के 'साकेत' और 'यशोधरा' आदि काव्यों में तो गीति-काव्य अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है। महादेवी वर्मा और जयशंकर प्रसाद के हाथों में पड़कर तो गीति-काव्य परम्परा और भी जगमगा उठी। प्रसाद जैसे कवि-हृदय से निसृत गीत हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। महादेवी वर्मा जी अधुनिक मीरा के नाम से विख्यात हैं। उनके गीतों में तो मधुरिमा घुलमिल कर मादक बन गई है। भाव और अभिव्यंजना दोनों के कारण इस आधुनिक मीरा के गीत बहुत ही श्रेष्ठ बन गये हैं। वस्तुतः आधुनिक काव्य गेयतत्व से परिपूर्ण है। गेयात्मकता उसकी एक मुख्य विशेषता है।

सूर का स्थान

यह हुआ गीति-काव्य परम्परा का संक्षिप्त इतिहास। अब प्रश्न यह है कि इसमें सूर को कौन-सा स्थान दिया जाय। हिंदी के सम्पूर्ण गीति-काव्य का अध्ययन करने के पश्चात् निश्चित रूप से सूर का स्थान सर्वोच्च ही कहना पड़ेगा। काव्य-और संगीत का अविच्छिन्न सम्बन्ध मानने वाले विज्ञ समा-

लोचकों से तनिक पूछिये कि इस दृष्टि से जो काव्य और संगीत का सफल समन्वय सूर के पदों में दृष्टिगत होता है, क्या वह उतनी सफलता के साथ और कहीं दिखाई देता है ? क्या अन्य किसी कवि की काव्य-रचना सूर की भाँति काव्य-कला की दृष्टि से भी उतनी ही उत्तम है जितनी कि संगीत और गेयत्व की दृष्टि से ? दोनों का सफल समन्वय जिस मात्रा में सूर के पदों में दिखाई देता है उस मात्रा में अन्य किसी कवि के पदों में नहीं दीख पड़ता। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी के गीति काल की परम्परा में सूरदास का मूर्धन्य स्थान है।

प्रश्न ३२—कृष्ण-काव्य का विकास दिखाते हुए उसमें सूर का स्थान निर्धारित कीजिये।

हिंदी-साहित्य में कृष्ण से सम्बन्धित साहित्य जितनी मात्रा में रचा गया है उतनी मात्रा में सम्भवतः और कोई साहित्य नहीं रचा गया। हिंदी-साहित्य के चारों कालों अर्थात् वीरगाथाकाल, भक्ति-काल, रीतिकाल तथा आधुनिककाल में कृष्ण को नायक बना कर काव्य रचनायें हुई हैं। वीरगाथाकाल से लेकर आज तक कवि कृष्ण-काव्य की रचना करते रहे हैं।

जयदेव

यदि हम इस बात पर विचार करें कि हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य का आरम्भ किस कवि से माना जाय तो हमें मैथिल-कोकिल विद्यापति का नाम लेना पड़ेगा। विद्यापति पर संस्कृत के प्रसिद्ध गीतिकार कवि जयदेव का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। अतः 'गीत गोविंद' के रचयिता श्री जयदेव को ही कृष्ण-काव्य का वास्तविक जन्मदाता मानना चाहिये। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि जयदेव से पूर्व संस्कृत में कृष्ण से सम्बन्धित काव्य नहीं है। श्रीमद्भागवत आदि कितने ही ऐसे धार्मिक ग्रंथ हैं जो श्रीकृष्ण सम्बन्धी काव्यों के आधार हैं, किन्तु जयदेव की शैली से ही हिन्दी काव्यकार कुछ

उठाई है कि जिससे राधा-कृष्ण के जीवन का सत्य प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।"

कृष्ण काव्य की रचना करने वाले कवियों का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण भी देखते चलना चाहिये। विद्यापति के भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण का पता भी डा० रामकुमार वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियों से लगाया जा सकता है—

"विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहां सदैव कोकिलायें ही कूजन करती हैं। फूल खिला करते हैं किन्तु उनमें कांटे नहीं लगते। राधा रात भर जागा करती हैं। उनके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है, पथ है, उसमें भी गुलाब हैं, शरीर है उसमें भी गुलाब हैं। सारा संसार ही गुलाबमय है। यौवन-शरीर के आनन्द उनके आनन्द हैं।"

अष्टछाप

विद्यापति के पश्चात् हिंदी में कृष्ण काव्य के विकास का श्रेय श्री वल्लभाचार्य जी को दिया जायगा। इन्होंने पुष्टिमार्ग चला कर अनेक कवियों को उसमें दीक्षित किया। इनके पुत्र स्वामी विट्ठलनाथ ने कृष्ण काव्य रचने वाले आठ कवियों की एक मंडली बनाई जो 'अष्ट छाप' के नाम से विख्यात है। इस अष्टछाप के कवियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सूरदास
२. नन्ददास
३. कृष्णदास
४. परमानन्ददास
५. कुम्भनदास
६. चतुर्भुजदास
७. छीतस्वामी
८. गोविंदस्वामी

हमारे नेत्रों के सामने साकार होकर खड़ी हो जाती है। इस स्त्रीरत्न का नाम था मीरा। मीरा सूर की भाँति कृष्ण की अनन्य भक्त थी। उनकी आत्म-समर्पण की भावना को देखकर कौन ऐसा प्राणी होगा जो उनके आगे अपना मस्तक न नवा देगा? भक्तों में निश्चय ही मीरा का स्थान बहुत ऊँचा है, किन्तु कवि-रूप में मीरा को बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। उनके गीत यद्यपि बहुत मधुर, कोमल तथा भाव-युक्त हैं किन्तु काव्य के कलापक्ष की दृष्टि से उनका अधिक महत्व नहीं है। उनके पदों की तो मुख्य विशेषता है उनकी एकान्त भावमयता। जो कुछ कवित्व तथा काव्य-चमत्कार दिखाई भी देता है वह स्वाभाविक रूप से अनायास ही आ गया है। संगीत की दृष्टि से भी इनके गीतों का बहुत महत्व है। कलापक्ष सम्बन्धी चमत्कार चाहे सूर के समान न हो किन्तु आन्तरिक सत्यानुभूति जो गीति काव्य का प्राण है, वह सूर से कम नहीं मिलेगी।

रसखान और घनानन्द

मीरा के पश्चात् कृष्ण-काव्य के कवियों में रसखान और घनानन्द का नाम आदर के साथ लिया जाता है। रसखान और घनानन्द के सवैये रस से भरपूर होते हैं। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इन दोनों कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। साक्षात् प्रेम रस के अवतार घनानन्द ने तो ब्रजभाषा काव्य में एक परम्परा स्थापित की है। घनानन्द जी यद्यपि अपने पिछले जीवन में विरक्त रूप में वृंदावन आकर रहने लगे थे, किन्तु इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि में नहीं आ सकती, उसे तो शृंगार-प्रधान ही कहा जायगा। हाँ, रसखान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनकी कविता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। आगे चलकर बिहारी देव तथा मतिराम आदि ने जिस विलासमय शृंगारिक प्रेम का निरूपण किया उसका पुनीत, अकृत्रिम, मुक्त तथा स्वाभाविक रूप यदि कहीं देखने को मिलता है तो वह रसखान में। इन्हीं जैसे मुसलमान कवियों की भक्ति-भावना से कोई हिन्दू विद्वान् तो इतना प्रभावित हुआ कि वह

हरिश्चन्द्र ने भी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की।
इनके पदों मे भक्ति-काल तथा रीतिकाल दोनों का समन्वय मिलता है। इनकी 'चन्द्रावली' में कृष्ण-काव्य अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है। राधा और कृष्ण की जिस प्रेममयी भक्ति का स्वरूप इनके पदों में दिखाई देता है वह अन्यत्र कठिनता से ही मिल सकेगा। रीतिकाल की-सी छीछलेदार भक्ति-भावना इनके पदों मे नहीं है।

भारतेन्दु जी के पश्चात् कृष्ण-काव्य मे श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का नाम आता है। जो ब्रज भाषा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं, इनका उद्धव-शतक, कृष्ण काव्य के विकास मे अपना विशेष महत्त्व रखता है। इनके काव्य मे भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनों पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं। भक्तिकाल के कवियों की भाँति यदि इनके काव्य में भावपक्ष चमक रहा है तो रीतिकालीन कवियों की भाँति—उनसे भी एक कदम आगे बढ़कर—कलापक्ष भी दर्शनीय है। इनकी सी अलंकृत ब्रजभाषा संभवतः कहीं नहीं मिलेगी।

कृष्ण-काव्य के विकास मे 'प्रिय प्रवास' अन्तिम रचना मानी जाती है। 'हरिऔध' जी के इस काव्य की दो विशेषतायें हैं। एक तो यह कि आधुनिक युग की विचारधारा से प्रभावित होकर इन्होंने कृष्ण को भगवान् के स्थान पर महापुरुष के रूप मे चित्रित किया है। इन्होंने कृष्ण के जीवन की अलौकिकता की व्याख्या लौकिक दृष्टि से की है। दूसरी विशेषता यह है कि यह काव्य हिंदी में खड़ी बोली का प्रथम अतुकांत महाकाव्य है।

इस समस्त विवरण के आधार पर स्पष्टतः कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य के इतिहास में सूर का स्थान ही सर्वोच्च है। काव्य की दृष्टि से कोई भी कवि उनकी समता नहीं कर सकता। समस्त कृष्ण काव्य मे ही क्या, समस्त हिंदी-साहित्य में तुलसी के अतिरिक्त उनकी समता करने का साहस तथा बल किसी अन्य कवि मे परिलक्षित नहीं होता।

++++

गद ही बैठा—

'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।

रीतिकाल

रीतिकाल तक आते-आते कृष्ण-भक्ति का यह पावन दृष्टि लगा। कृष्ण भक्ति जो भक्तिकाल में साध्य थी, अब साधन राधा और कृष्ण जो भक्ति-काल में विष्णु तथा लक्ष्मी के रूप में साधारण नायक नायिका रह गये। इस विषय में डा० रामकु के शब्द दर्शनीय हैं—

"रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण को साधारण नायक न डाला। राधा से अभिसार कराया। उसे विरहणि बना कर अनि है। उसे पलंग पर लिटाया है तथा स्वप्न में कृष्ण से मिलाया है पर 'ऐरी गयो गिर हाथ को हीरो' कहला कर शोक भी विलास वासना का इतना नग्न चित्र खींच गया है कि उसके सामने राधा सम्पूर्ण अलौकिक सौन्दर्य नष्ट ही गया है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि राधा और कृष्ण, जो कभी ब्रम रीतिकाल में जाकर सामन्य स्त्री पुरुष बन गये। शृंगार का नग्न होने लगा। साढ़े तीन हाथ की स्त्री ही कविता का विषय रह गई। बेहारी और देव जैसे महाकवियों के काव्यों में कहीं-कहीं भक्ति-भावना र्शन हो जाते हैं, किन्तु अधिकाँशतः नग्न शृंगार का ही चित्रण प्राप्त । इस काल के कृष्ण-काव्य रचना करने वाले कवि आचार्य बनने की इतने मस्त रहे कि उन्होंने काव्य के भावपक्ष की हत्या ही कर डाली। ल आचार्य ही बन सके और न सफल कवि ही। इस समय कला बिक और जब कला धन के हाथों बिकने लगती है तो उसका ह्रास

के पश्चात् आधुनिककाल के जनक श्री भारतेन

हरिश्चन्द्र ने भी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की । इनके पदों में भक्ति-काल तथा रीतिकाल दोनों का समन्वय मिलता है । इनकी 'चन्द्रावली' में कृष्ण-काव्य अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है । राधा और कृष्ण की जिस प्रेममयी भक्ति का स्वरूप इनके पदों में दिखाई देता है वह अन्यत्र कठिनता से ही मिल सकेगा । रीतिकाल की-सी छीछलेदार भक्ति-भावना इनके पदों में नहीं है ।

भारतेन्दु जी के पश्चात् कृष्ण-काव्य में श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का नाम आता है । जो ब्रज भाषा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं, इनका उद्धव-शतक कृष्ण काव्य के विकास में अपना विशेष महत्त्व रखता है । इनके काव्य में भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनों पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं । भक्तिकाल के कवियों की भाँति यदि इनके काव्य में भावपक्ष चमक रहा है तो रीतिकालीन कवियों की भाँति—उनसे भी एक कदम आगे बढ़कर—कलापक्ष भी दर्शनीय है । इनकी सी अलंकृत ब्रजभाषा संभवत: कहीं नहीं मिलेगी ।

कृष्ण-काव्य के विकास में 'प्रिय प्रवास' अन्तिम रचना मानी जाती है । 'हरिऔध' जी के इस काव्य की दो विशेषतायें हैं । एक तो यह कि आधुनिक युग की विचारधारा से प्रभावित होकर इन्होंने कृष्ण को भगवान् के स्थान पर महापुरुष के रूप में चित्रित किया है । इन्होंने कृष्ण के जीवन की अलौकिकता की व्याख्या लौकिक दृष्टि से की है । दूसरी विशेषता यह है कि यह काव्य हिंदी में खड़ी बोली का प्रथम अतुकांत महाकाव्य है ।

इस समस्त विवरण

काव्य के इतिहास

भी कवि